



मानव अधिकार पत्रिका

मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग का
त्रैमासिक प्रकाशन

वर्ष 2013
अंक - चतुर्थ

संरक्षक

जस्टिस ए.के. सक्सेना
कार्यकारी अध्यक्ष

वीरेन्द्र मोहन कँवर
सदस्य

विनोद कुमार, सचिव
ए.के. जैन, अतिरिक्त पुलिस महानिदेशक
एच.के. दुबे, रजिस्ट्रार (लॉ)

प्रकाशक

कुलदीप जैन
उपसचिव

सम्पादक

रोहित मेहता
संयुक्त संचालक, जनसम्पर्क

सह सम्पादक

संजय कुमार विश्वकर्मा
शोध अधिकारी

सम्पर्क

मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग
पर्यावास भवन, अरेरा हिल्स,
पुरानी जेल पहाड़ी मार्ग, भोपाल (म.प्र.)
फोन : 0755-2572034
फैक्स : 0755-2574028

E-mail : mphrc@sancharnet.in

Website : www.mphrc.nic.in

मानव अधिकार पत्रिका

चतुर्थ अंक
वर्ष : 2013



मानव अधिकार पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं,
यह जरूरी नहीं कि आयोग उनसे सहमत हो।



**पत्रिका में प्रकाशित आलेखों का पुर्नप्रकाशन आयोग
का संदर्भ देते हुए किया जा सकता है।**



इस बार...

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ क्रमांक
1.	जन को जगाओ, बच्चों को बचाओ मुद्दा	5
2.	कानून और सोच दोनों बदलें	7
3.	धंधे में दबे शिक्षक और शिक्षा	9
4.	शिक्षक नहीं, सेठ के भरोसे आज की शिक्षा	12
5.	गलत नीतियों के चक्रव्यूह में शिक्षक	14
6.	बोझ नहीं, हमारी जिम्मेदारी हैं बुजुर्ग	16
7.	अवैध खनन द्वारा नदियों से खिलवाड़	17
8.	आर्थिक विकास के साथ खाद्य सुरक्षा	19
9.	ताकि शिक्षक बनें युवा	22
10.	ताकि मिटाए जा सकें दंगों के दाग	24
11.	पुलिस सुधार कब होगा?	26
12.	शिक्षा ही संवार सकती है आदिवासियों का जीवन	28
13.	धरती पर इतना कचरा क्यों	29
14.	विकास की दौड़ से बाहर विकलांगजन	31
15.	पारिवारिक सम्मान और अपनों का प्यार चाहते हैं वृद्धजन	33
16.	टोबेको मुक्त दुनिया का सपना	35
17.	दरकिनार होते छोटे किसान	38
18.	कुपोषण के नाम पर किसका 'पोषण'	40
19.	नदियों की चिंता	42



क्र.	विषय	पृष्ठ क्रमांक
20.	कृपोषण : जिंदगी की जंग हारते बच्चे	43
21.	नारी श्रम का रखिए मान	45
22.	उच्च शिक्षा की दुर्दशा, देश शर्मसार	47
23.	कहीं जागे, तो कहीं सो गए?	49
24.	आदिवासियों की मुख्यधारा से जोड़ मिटाए नक्सलवाद!	51
25.	अल्पसंख्यकों के अधिकार का संरक्षण - भारत में चुनौती एवं समस्या	53
26.	A RIGHTS-BASED APPROACH TO EDUCATION FOR ALL	58
27.	EFFECT OF TRIP'S AGREEMENT ON INDIAN PATENT SYSTEM	65
28.	ECO-LITERACY IS THE KEY TO SURVIVAL	76
29.	RESULTS ALONE DON'T MEASURE SUCCESS	78
30.	MORE THAN BABY STEPS REQUIRED	80
31.	DANGERS OF CHILLING ON CLIMATE CHANGE	81
32.	WASTED FOOD FOR THOUGHT	83
33.	DEMOCRACY VS. CAPITALISM	84
34.	SLUM-FREE CITIES	87
35.	INDIA'S INVISIBLE POPULATION	88
36.	IN SEARCH OF THE ORDINARY WOMAN	91
37.	IN THE NAME OF PRIVACY	94
38.	WHERE KNOWLEDGE IS POOR	96
39.	A BETTER LIFE, A HEALTHIER MIND	99
40.	THE RIGHT TO SAFE ABORTIONS	102
41.	NOTA SMALL MATTER, THIS	103
42.	ROLE OF LEGAL EDUCATION IN DEMOCRATIC SOCIETY	106



जन को जगाओ, बच्चों को बचाओ मुद्दा

● संजय स्वदेश



आज के मासूम बच्चे ही कल के जिम्मेदार नागरिक हैं। जैसा वातावरण पाकर वे बड़े होंगे, वैसा ही आने वाले भारत का भविष्य होगा। आज देश में छोटे-बड़े क्षेत्रों में कई क्रूर इंसान मिल जाएंगे। वे असामाजिक तत्वों के दायरे में आएंगे। दरअसल ऐसी प्रवृत्ति उनके बचपन में मिले वातावरण के कारण ही विकसित हुई। समाज की भी ऐसी जिम्मेदारी बनती है कि वह अपने बीच के भूखे-नंगे और किसी बीमारी से पीड़ित बच्चों की सुध ले। भविष्य संवारने की जिम्मेदारी केवल सरकार और एक परिवार विशेष की नहीं होती है।



सं | युक्त राष्ट्र ने अपनी एक रिपोर्ट में कहा है कि उसके प्रयासों से पिछले दो दशक में दुनिया भर के करीब नौ लाख बच्चों की जिंदगियां बचाई जा सकी हैं लेकिन 2015 तक इस मृत्यु दर में दो तिहाई की कमी का लक्ष्य फिलहाल पूरा होता नहीं दिखता। रिपोर्ट खुलासा करती है कि 1990 में जहां विभिन्न कारणों से दुनिया भर में पांच साल तक की आयु के एक करोड़ 26 लाख बच्चे असमय काल के ग्रास बन गए। वहीं 2012 में यह आंकड़ा 66 लाख पर ही रुक गया।

रिपोर्ट के अनुसार दुनिया भर में पांच साल से कम उम्र के आधे से अधिक बच्चों की मौत अकेले भारत, चीन, कांगो, पाकिस्तान और नाइजीरिया में होती है। बच्चों की इस असामयिक मौत के लिए निमोनिया, मलेरिया और दस्त के साथ कुपोषण को बड़ी वजह बताया गया है। इस अभियान का सबसे सुखद, सराहनीय और उल्लेखनीय पहलू यह है कि बांग्लादेश, इथोपिया, नेपाल, लाइबेरिया, मलावी और तंजानिया जैसे गरीब देश भरसक कोशिश करते हुए 1990 के बाद से अब तक अपने यहां बाल मृत्यु

दर में दो तिहाई या उससे अधिक की कमी का लक्ष्य हासिल कर प्रेरक बन गए हैं। गरीब देश भारत जैसे विकासोन्मुख देशों के लिए बड़ी प्रेरणा कहे जा सकते हैं जहाँ दिन-ब-दिन बढ़ती जनसंख्या के साथ बाल मृत्यु दर सबसे भयावह समस्या बनी हुई है। यूनिसेफ की 2012 की एक रिपोर्ट के मुताबिक 2011 में वैश्विक स्तर पर इस आयु वर्ग के प्रतिदिन मरने वाले 19000 बच्चों में से करीब एक चौथाई भारत में मृत्यु का ग्रास बने यानी हर दिन करीब पांच हजार बच्चे मौत के मुंह में समा गए।

बाल विकास के नाम पर तमाम सरकारी और गैर-सरकारी योजनाओं की मौजूदगी के बावजूद अपने यहां दुनिया के बाकी देशों की तुलना में सबसे ज्यादा मौतें होना बहुत त्रासद और विचारणीय है। अपने यहां बच्चों की असामयिक मौत के पीछे गरीबी, कुपोषण और अशिक्षा सबसे बड़े कारण माने जाते हैं और इसके लिए अंततः हमारा शासन तंत्र जिम्मेदार है। भारत में केंद्र और राज्य सरकार के ढेरों ऐसी योजनाएं हैं जिसके माध्यम से सरकारी अमला बच्चों के बेहतर भविष्य का दावा करता है लेकिन



हालात यह है कि ऐसी योजनाएं लाखों मासूमों तक पहुंचने से पहले भ्रष्टाचार का ग्रास बन जाती है। ये भ्रष्टाचारी कभी यह नहीं सोचते कि जिनके हिस्से की राशि वे भ्रष्टाचार के रूप में लेकर अपने घर-परिवार में बच्चों को ऐशो आराम उपलब्ध करा रहे हैं, दरअसल उसकी कीमत किसी दूसरे के गोद के मासूम के मुंह में जाने वाला निवाला है, स्वास्थ्य सुविधाओं समेत अन्य दूसरी योजनाओं के रूप में उनकी जिंदगी है।

मासूम बच्चों के लालन-पालन, स्वास्थ्य और शिक्षा के लिए अनुकूल माहौल बनाने की जिम्मेदारी केवल केंद्र सरकार पर नहीं है। केंद्र सरकार के साथ राज्य सरकार के कंधे पर भी यही बोझ है। आज के मासूम बच्चे ही कल के जिम्मेदार नागरिक हैं। जैसा वातावरण पाकर वे बड़े होंगे, वैसा ही आने वाले भारत का भविष्य होगा। आज देश में छोटे-बड़े क्षेत्रों में कई क्रूर इंसान मिल जाएंगे। वे आसामाजिक तत्त्वों के दायरे में आएंगे। दरअसल ऐसी प्रवृत्ति उनके बचपन में मिले वातावरण के कारण ही विकसित हुई। समाज की भी ऐसी जिम्मेदारी बनती है कि वह अपने बीच

के भूखे-नंगे और किसी बीमारी से पीड़ित बच्चों की सुध ले। भविष्य संवारने की जिम्मेदारी केवल सरकार और एक परिवार विशेष की नहीं होती है। समाज को इस दिशा में सोचना बेहद जरूरी है कि आज के नौनिहालों के मन में यदि नकारात्मक प्रवृत्ति घर करती है और वे बड़े होकर असामाजिक तत्त्वों में शामिल हो जाते हैं फिर वे उसी समाज को दर्द देंगे।

सामाजिक सरकारी उपेक्षा में पल कर तैयार होने वाले नागरिक इस बात की गारंटी नहीं दिलाते कि वे अपने बचपन में सामाजिक और सरकारी उपेक्षा के बदले समाज और देश के साथ कुछ अच्छा करेंगे। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चलाई जाने वाली योजनाओं की सफलता की रफ्तार बहुत धीमी है। क्योंकि इन योजनाओं में समाज का उचित सहयोग नहीं मिल पाता है। समाज में माहौल तैयार करने की प्रक्रिया एक वाहन के दो पहियों की तरह है। एक पहिया योजनाओं के क्रियान्वयन करने वाली एजेंसियां हैं तो दूसरा समाज। यह सामूहिक जिम्मेदारी है।

(साभार : नई दुनिया)



“All that we are is the result of what we have thought.”

– *Buddha*



“A jug fills drop by drop.”

– *Buddha*



कानून और सोच दोनों बदलें

● ज्ञानप्रकाश पिलानिया



नाबालिगों से जुड़े अपराध के सही कारणों की खोज करने के साथ-साथ हमें इनसे जुड़े कानूनों में भी परिस्थितियों के अनुसार बदलाव करना ही चाहिए। साथ ही समाज की सोच भी बदले।

बाल-अपराधियों की बढ़ती आपराधिक गतिविधियां, समाज और सरकार के लिए चिन्ताजनक हैं। यौन उत्पीड़न जैसे अपराधों में शामिल किशोरों की लगातार बढ़ती संलिप्तता को ध्यान में रखते हुए केन्द्र सरकार की महिला सशक्तीकरण पर बनी संसदीय समिति ने हाल ही में अपनी 19वीं संसदीय रिपोर्ट में, किशोर अपराधियों पर मुकदमा चलाने के लिए किशोर उम्र की सीमा 18 वर्ष से घटाकर 16 वर्ष करने के पहलू पर दोबारा विचार करने की सिफरिश की है।

दिल्ली में पहले 'निर्भया' और बाद में 'गुड़िया' के साथ हुए दुष्कर्म ने देश को झकझोर कर रख दिया। इन दिल दहलाने वाले हादसों में भी अपराधी 18 वर्ष से कम उम्र के हैं। इसलिए, बहस शुरू हो गई है कि किशोर का वय क्या होना चाहिए?

वर्ष 2000 में जहाँ नाबालिगों द्वारा किए गए अपराधों की संख्या 198 थी, वहीं 2011 में 1149 हो गई। यानी पांच गुना। मामले बढ़ने की मुख्य वजह नाबालिग को मिलने वाली मामूली सजा है। एनसीआरबी के मुताबिक करीब 65 प्रतिशत बाल अपराधियों ने आईपीसी की धाराओं के तहत अपराध को अंजाम दिया। इन मामलों में बाल अपराधियों की उम्र 16 से 18 के बीच थी। राष्ट्रीय क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के आंकड़ों से साफ जाहिर है कि नाबालिग किशोरों द्वारा अंजाम दी गई दुष्कर्म की घटनाओं में 188

फीसदी की वृद्धि हुई है। इससे भी अधिक चौंकाने वाली बात यह है कि 2011-12 में 33 हजार से भी अधिक किशोर 25 हजार से अधिक घटनाओं में निरुद्ध हुए। उनमें से एक हजार दो सौ ग्यारह बच्चे 7 से 12 वर्ष के आयु समूह तथा ग्यारह हजार बच्चे 12 से 16 वर्ष की आयु समूह के पाए गए तथा शेष 12657 किशोर 16 से 18 वर्ष के आयु समूह में पाए गए।

संसदीय समिति ने हैरानी व्यक्त करते हुए कहा कि 2011 के दौरान 13.3 फीसदी महिलाओं के प्रति अपराध अकेले दिल्ली में हुए। बाल अपराधियों के लिए एक अलग कानून बनाने की जरूरत इसलिए पड़ी, क्योंकि जब संयुक्त राष्ट्र ने बाल अधिकारों का संयुक्त घोषणा-पत्र जारी किया, तो इस अंतर्राष्ट्रीय कानून में 18 वर्ष तक के किशोरों को नाबालिग घोषित किया गया था। साथ ही इसमें बच्चों की अशिक्षा, उत्पीड़न, शोषण तथा अपराध से जुड़े तमाम पहलुओं पर विचार करते हुए 18 वर्ष तक के बच्चों के मौलिक अधिकार सुनिश्चित किए गए थे। तत्पश्चात अलग-अलग देशों ने बाल अधिकार से जुड़े कानून प्रतिपादित किए।

भारत में भी इसी संधि के तहत 1992 में संसद में यह कानून पारित कर दिया गया। उसी अनुपालन में जुविनाइल-जस्टिस एक्ट-2000 बनाया गया। इसमें किशोर की आयु भी 16 वर्ष रखी गई थी। बाद में 2005 में इस



कानून में संशोधित करके यह उम्र बढ़ाकर 18 कर दी गई। अब इसी उम्र को कम करने की सिफारिश एक बार फिर संसदीय समिति ने संसद से की है। अब तक ज्यादातर बहस इसी बात पर केंद्रित रही है कि नाबालिग अपराधी के लिए आयु सीमा घटाकर 15 या 16 वर्ष कर दी जाए। पर यह कोई समाधान नहीं है। इसका अर्थ तो समस्या को तब तक के लिए टाल देना होगा जब तक कि 15 साल का कोई नाबालिग भयानक अपराध नहीं कर देता। इसके बाद बाल अपराधी की आयु सीमा और घटाने की मांग शुरू हो

जाएगी। नाबालिगों से जुड़े अपराध के सही कारणों की खोज करने के साथ-साथ हमें इनसे जुड़े कानूनों में भी परिस्थितियों के अनुसार बदलाव करना ही चाहिए। साथ ही समाज की सोच को बदलना है, पुरुषवादी सोच को बदलना इस बदलाव का पहला मोर्चा होना चाहिए। बेटी-बेटे को बराबर की दृष्टि देकर ही उनके संस्कारों को एक नए समाज के अनुरूप बनाया जा सकता है।

(साभार : पत्रिका)



“The real leader has no need to lead — he is content to point the way.”

- Henry Miller



“The three C’s of leadership are Consideration, Caring, and Courtesy. Be polite to everyone.”

- Brian Tracy leadership quote



“A real leader faces the music, even when he doesn’t like the tune.”

- Anonymous



▶ हमारी सरकारें और जड़तावादी वर्ग चाहता है, छात्र सवाल न उठाएं, वह आज्ञाकारी हों लेकिन विद्रोही और परिवर्तन के वाहक न हों

धंधे में दबे शिक्षक और शिक्षा

● आर.एस. ललित

‘अनुशासन, मानसिक ताकत और चरित्र की दृढ़ता का रिश्ता शिक्षा से कमजोर होता जा रहा है। लोग शिक्षकों को लेकर या तो निराशाजनक होते हैं अथवा उनको देवतुल्य समझते हैं। दोनों ही चीजें आज के शिक्षक को परिभाषित नहीं करती हैं। ये दोनों ही बातें अतिवाद हैं। यह समझ से परे हैं कि समाज शिक्षकों से चरित्र नैतिकता और देश के निर्माता होने की उम्मीद करता है? जबकि पूरी शिक्षा-प्रणाली को हमने पैसा कमाने की सोच से जोड़ दिया है तो जाहिर सी बात है कि ऊपर दी गई बातें बेमानी हैं।’

एक बार रूस के महान साहित्यकार मैक्सिम गोर्की अपने देश के एक अन्य महान रचनाकार चेखोव से मिलने उनके घर गए। चेखोव गोर्की से अत्यंत गर्मजोशी से मिले और अनेक विषयों पर उनसे चर्चा करने लगे। बातचीत के दौरान गोर्की ने चेखोव से पूछा, ‘आज समाज के विभिन्न वर्गों में किसे अधिक महत्व देते हैं?’ गोर्की की बात सुनकर चेखोव बोले, ‘वैसे तो सभी वर्गों की अपनी-अपनी जगह विशेष अहमियत है, किंतु मैं शिक्षक वर्ग को सबसे अधिक महत्व देता हूँ। शिक्षक निःसंदेह ही पूजनीय एवं सर्वश्रेष्ठ हैं।’

यह सुनकर गोर्की बोले, ‘शिक्षक वर्ग की ऐसी कौन सी खासियत है जिसके कारण आप उन्हें सर्वश्रेष्ठ समझते हैं?’ इस पर चेखोव बोले, ‘किसी भी देश की नई पीढ़ी को अच्छे संस्कार देकर आदर्श नागरिक बनाने का दायित्व शिक्षकों पर ही होता है। यदि शिक्षक सुखी-समृद्ध होगा तभी तो वह निश्चित होकर देश की आदर्श पीढ़ी के निर्माण में पूरी तन्मयता से लगा रह सकता है।’

चेखोव की बातें गोर्की बड़े ध्यान से सुन रहे थे।

उनकी यह बात सुनकर वह बोले, ‘तो ऐसे में आप शिक्षकों की कुछ मदद करना चाहते हैं?’ यह सुनकर चेखोव बोले, मैं गुरुजन के प्रति बहुत श्रद्धा रखता हूँ। यदि मेरे पास ढेर सारा धन आ जाए तो मैं उससे गांव में शिक्षकों के लिए सुविधाजनक मकान बनवाऊंगा।’ गोर्की बोले, ‘यह तो बहुत ही नेक निर्णय है।’ इस पर चेखोव बोले, ‘इतना ही नहीं, मैं एक ऐसे बड़े पुस्तकालय की व्यवस्था भी करूंगा कि अध्यापक, छात्र तथा ग्रामीण लोग पुस्तकों का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त कर सकें। किसी भी देश को आदर्श शिक्षकों तथा ज्ञान के भंडार की आवश्यकता पड़ती है। उसके सामाजिक-सांस्कृतिक विकास के लिये ये चीजें जरूरी हैं। इसलिए मैं तो शिक्षकों की भूमिका को सर्वाधिक महत्व देता हूँ। हमें इस वर्ग के प्रति अपनी कृतज्ञता दर्शानी चाहिए।’ लेकिन आज जब हर चीज व्यावसायिक हो गई है। शिक्षा से लेकर धार्मिक कर्मकांड तक तो क्या आज हम कह सकते हैं कि शिक्षक पूजनीय एवं सर्वश्रेष्ठ बचे हुए हैं? शायद कुछ हैं या हो सकते हैं पर ज्यादातर आज शिक्षक भी शिक्षा को व्यापार बना बैठे हैं। वे ट्यूशन करना चाहते हैं। अब



शिक्षा-प्रणाली को हमने पैसा कमाने की सोच से जोड़ दिया है तो जाहिर सी बात है कि ऊपर दी गई बातें बेमानी हैं। इसके लिये सिर्फ शिक्षकों को दोष देना भी उचित न होगा। कहीं न कहीं हम भी दोषी हैं। हम अपने स्वार्थ को लेकर इस माहौल को पनपने दे रहे हैं। आज शिक्षक और अभिभावक तथा बच्चों के बीच संवाद नहीं है। संवाद की कमी से बच्चों, शिक्षकों और अभिभावकों के बीच सौजन्य का त्रिकोण बनता, वह बिखर गया है। इससे अनुशासन और सामाजिकता का बोध कम हो रहा है। माता-पिता बच्चों की पढ़ाई में खुद भी सम्मिलित हों। उन्हें पूरा साथ और सहकार दें।



इसे आम बातों में गिना जाने लगा है। आज की भौतिकता में धन प्राप्त करने की दौड़ को देखते हुए हर अभिभावक अपने बच्चे को डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, आई.पी.एस., उच्च अधिकारी या मैनेजर बना देखना चाहता है। इसके लिए अगर कुछ हजार से लेकर दस बीस लाख भी खर्च करने पड़ें तो वे करने को तैयार हो जाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि आज अगर उनसे चूक हो गई तो बच्चे का आर्थिक भविष्य बिगड़ जाएगा। बच्चे के सामाजिक नैतिक और व्यक्तित्व की चिंता नहीं की जाती। शिक्षा को एक प्रोडक्ट की तरह माना जाने लगा है। उससे नैतिकता, मानसिक ताकत और चरित्र की दृढ़ता का रिश्ता खत्म हो गया। दरअसल यह रिश्ता तो खत्म होना ही था। लोग शिक्षकों

को लेकर या तो निराशाजनक तरीके से बात करते हैं अथवा उनको देव तुल्य समझकर। ये दोनों ही चीजें आज के शिक्षक को परिभाषित नहीं करती हैं। ये दोनों ही बातें अतिवाद की तरफ इशारा करती हैं। शिक्षक को एक सामान्य सामाजिक व्यक्ति न समझ कर उन पर नैतिकता को आरोपित करती हैं। यह समझ से परे है कि समाज शिक्षकों से चरित्र नैतिकता और देश के निर्माता होने की उम्मीद क्यों करता है?

जब शिक्षा-प्रणाली को हमने पैसा कमाने की सोच से जोड़ दिया है तो जाहिर सी बात है कि ऊपर दी गई बातें बेमानी हैं। इसके लिये सिर्फ शिक्षकों को दोष देना भी उचित न होगा। कहीं न कहीं हम भी दोषी हैं। हम अपने स्वार्थ को लेकर इस माहौल को पनपने दे रहे हैं। आज शिक्षक और अभिभावक तथा बच्चों के बीच संवाद नहीं है। संवाद की कमी से बच्चों, शिक्षकों और अभिभावकों के बीच सौजन्य का त्रिकोण बनता, वह बिखर गया है। इससे अनुशासन और सामाजिकता का बोध कम हो रहा है। माता-पिता बच्चों की पढ़ाई में खुद भी सम्मिलित हों। उन्हें पूरा साथ और सहकार दें। समय-समय पर उनके स्कूल में जाकर शिक्षकों से बात करें। बच्चा किस विषय में कमजोर है उसका पता लगाएं। शिक्षक से परामर्श करें। अभिभावक इन बातों पर ध्यान दें तो शायद कुछ बदलाव आए।

सरकारों ने भी शिक्षा को हमेशा नजरअंदाज किया है। तमाम लंबे चौड़े दावों के बावजूद न तो इसे सर्वसुलभ बना पाए हैं और न ही इसे मानवीय स्पर्श दे पाए हैं। पिछले दिनों नेशनल यूनिवर्सिटी ऑफ एजुकेशनल प्लानिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन के एक सर्वेक्षण में यह पता चला कि इस देश के 42 हजार स्कूल ऐसे भी हैं, जिनका अपना कोई भवन ही नहीं है। जब बैठने तक के लिए भवन नहीं हैं तो सीखने-सिखाने के अन्य उपकरणों और शेष शैक्षिक प्रक्रियाओं की बात करना ही बेमानी है। अमेरिका में कुल बजट का 19.9 प्रतिशत, जापान में 19.3 प्रतिशत, इंग्लैंड में 13 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च किया जाता है। अफसोसजनक है कि भारत में शिक्षा पर बजट का मात्र 5 प्रतिशत भाग खर्च



किया जाता है। ऐसे में अच्छी शिक्षा और अच्छे शिक्षकों के लिए सिर्फ कल्पना में ही ख्याल किया जा सकता है। हमारी शिक्षा एक समान नजरिये पर केंद्रित नहीं है। वह पैसे से संचालित है।

उच्च शिक्षा की हालत भी निराशाजनक है। देश में 9278 महाविद्यालय और 260 विश्वविद्यालय हैं। पर अभी भी हम उच्च शिक्षा के वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने में अक्षम हैं। विश्वविद्यालयों में राजनीतिकरण और बढ़ती अनुशासनहीनता ने शिक्षा के माहौल को राजनीतिक अखाड़े में बदला है। आधे से ज्यादा विश्वविद्यालय कुप्रबंधन, अनुशासनहीनता, अयोग्य शिक्षकों की भरमार और आर्थिक बदहाली से जूझ रहे हैं। विज्ञान और तकनीकी महाविद्यालयों में प्रायोगिक शिक्षा और शोध के नाम पर खानापूर्ति की जा रही है। स्कूली शिक्षा हो अथवा उच्च शिक्षा दोनों व्यवस्थाओं में शिक्षक होना एक क्रांतिकारी होना है। वह जड़ता, रूढ़ी और बासी विचारों का वाहक न हो। उसका अध्ययन गहरा हो और वह बच्चों के सवालियों से चिढ़ता न हो। अपने विषय का विशेषज्ञ होने के साथ उसकी चेतना का विकास सामान्य से ऊपर हो। ये कुछ गुण शिक्षक होने की योग्यता में शामिल होना चाहिए। लेकिन वर्तमान सरकारी और निजी स्कूलों को ढांचा इसके लिए उपयुक्त नहीं है। उक्त गुण शिक्षक की बड़ी योग्यता का हिस्सा हैं। ऐसे शिक्षकों को हासिल करने के लिए शिक्षा व्यवस्था को उपयुक्त बनाना होगा। यह बड़े बदलावों की मांग करते हैं। आज न तो हम प्राचीन शिक्षा व्यवस्था को ढो सकते हैं और जो केवल व्यवसाय के लिए हमने शिक्षा व्यवस्था तैयार की है उसे। वर्तमान परिवेश में ऐसी शिक्षा हो जो समाज, व्यक्ति और आधुनिकता को वहन कर सके। शिक्षा बच्चों में उचित अनुचित का भेद करने की क्षमता का विकास कर सके। उनको विषय में पारंगत करे और अनुशासन भी दे। ऐसे योग्य शिक्षकों को हासिल करने के लिए अच्छे वेतन के साथ अच्छी सुविधाएं भी हों। उनको प्राधिकार मिलें। शिक्षक को एक कर्मचारी की तरह न समझा जाए। प्रबुद्ध



स्कूली शिक्षा हो अथवा उच्च शिक्षा दोनों व्यवस्थाओं में शिक्षक होना एक क्रांतिकारी होना है। वह जड़ता, रूढ़ी और बासी विचारों का वाहक न हो। उसका अध्ययन गहरा हो और वह बच्चों के सवालियों से चिढ़ता न हो। अपने विषय का विशेषज्ञ होने के साथ उसकी चेतना का विकास सामान्य से ऊपर हो। ये कुछ गुण शिक्षक होने की योग्यता में शामिल होना चाहिए।



और चेतना से संपन्न शिक्षक परिवर्तन के केंद्र होते हैं।

हमारी सरकारें और जड़तावादी सामाजिक वर्ग परिवर्तन कामी शिक्षा को पसंद नहीं करता। वह चाहता कि बच्चा सवाल न करे। वह सिर्फ आज्ञाकारी हो। विनम्र हो। लेकिन वह विद्रोही और क्रांतिकारी परिवर्तन का वाहक न हो। सामान्य समाज को लगता है कि ऐसे बालक और युवा समाज की व्यवस्था के लिए किसी काम के नहीं हैं। शिक्षक क्रांतिकारी नागरिक को बनाने वाले एक ऐसे वर्ग से जुड़े हैं जो देश की तकदीर को बदल कर रख सकते हैं। शिक्षक मानसिक स्तर पर युवा हो, पारंगत हो तभी यह संभव है। वरना राजनीतिक पार्टियों ने शिक्षकों को एक गुलाम शिक्षा व्यवस्था का हिस्सा बना दिया है। जिसमें वे मामूली सा वेतन पाते हैं। जहां न शोध है और नए के प्रति स्वीकार्य भाव। यथास्थितिवादी शिक्षक और शिक्षा व्यवस्था इस समाज के लिए सबसे बड़ा धीमा जहर है। सरकारें नहीं सजगता से भरा जीवन ही शिक्षकों पूजनीय और शिक्षा व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ बना सकता है। आपका क्या मानना है?

(साभार : नई दुनिया)





शिक्षक नहीं, सेठ के भरोसे आज की शिक्षा

● अनिल सद्गोपाल

सरकार नई शिक्षा नीति के जरिए ऐसी व्यवस्था करने पर आमादा है जिसमें शिक्षा और शिक्षक दोनों के लिए कम जगह हो और लोगों के प्रति भी उसकी कोई जवाबदेही न हो। सरकार अब परोक्ष नहीं बल्कि प्रत्यक्ष तौर पर यह चाहती है कि शिक्षा पर कॉरपोरेट हावी हों। इसके लिए वह लगातार नए-नए शिगूफे छोड़ रही है। सरकार अगर शिक्षा के प्रति वाकई गंभीर होती तो वह समान स्कूल प्रणाली और पड़ोसी स्कूल की अवधारणा पर काम करती, जिसकी अनुशंसा कोठारी कमीशन ने भी की थी। इसकी जगह वह पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप जैसी योजनाओं पर जोर दे रही है। इस योजना में सरकारी धन तो लग रहा है लेकिन लाभ निजी एजेंसियाँ कमा रही हैं।

शिक्षित समाज के निर्माण में सबसे अहम भूमिका शिक्षकों की होती है, किंतु आज शिक्षक जिन हालात का सामना कर रहे हैं, यह बात बेमानी जान पड़ती है। उदारीकरण की आंधी के बाद हमारे देश के नीति निर्धारकों ने शिक्षक नाम की संस्था को समाज के हाशिये पर ले जाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। आज शिक्षकों के आगे कई चुनौतियां हैं। ये चुनौतियां हमारी सरकार ने ही पैदा की हैं। शिक्षा के नाम पर उसने जो भी कदम उठाए हैं, उससे न तो शिक्षा की हालत सुधर रही है और न शिक्षकों की। हाल में सरकार ने शिक्षा का अधिकार कानून बनाया लेकिन इसमें शिक्षकों के लिए विशेष कुछ भी नहीं था। इसके अलावा, शिक्षा का आज इस कदर बाजारीकरण हो चुका है कि शिक्षकों की कीमत न तो पहचानने वाला कोई है और न ही शिक्षक अपने मूल्यों की रक्षा करने को लेकर पहले की तरह सचेत हैं। देश की शिक्षा नीति पर विश्व बैंक की नीतियां हावी दिखती हैं।

शिक्षा व्यवस्था पर कॉरपोरेट घरानों का असर दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। आज केंद्रीय शिक्षक हों या राज्य सरकार के, सभी का काडर तहस-नहस हो चुका है। नीतियां ऐसी हैं कि स्कूल-कॉलेजों में शिक्षकों की भारी कमी है। जो शिक्षक हैं, उनमें से ज्यादातर अप्रशिक्षित हैं। सरकार को इससे कोई मतलब नहीं कि ऐसे शिक्षक अपनी जिम्मेदारी निभाने में अक्षम हैं। सच्चाई यही है कि सरकार शिक्षकों की

अहमियत समझना नहीं चाहती। वह बस कामचलाऊ रवैया अपनाए हुए है ताकि डिग्री बांटने का काम चलता रहे। अप्रशिक्षित शिक्षकों के लिए शिक्षण कार्य मिशन नहीं होता, इस बात से सरकार को कोई मतलब नहीं है। फिर सरकार उन्हें पर्याप्त वेतन भी नहीं देती। ऐसे में ये शिक्षक मजबूरन पढ़ाई पर अधिक ध्यान नहीं देते।

दरअसल, सरकार नई शिक्षा नीति के जरिए ऐसी व्यवस्था करने पर आमादा है जिसमें शिक्षा और शिक्षक दोनों के लिए कम जगह हो और लोगों के प्रति भी उसकी कोई जवाबदेही न हो। सरकार अब परोक्ष नहीं बल्कि प्रत्यक्ष तौर पर यह चाहती है कि शिक्षा पर कॉरपोरेट हावी हों। इसके लिए वह लगातार नए-नए शिगूफे छोड़ रही है। सरकार अगर शिक्षा के प्रति वाकई गंभीर होती तो वह समान स्कूल प्रणाली और पड़ोसी स्कूल की अवधारणा पर काम करती, जिसकी अनुशंसा कोठारी कमीशन ने भी की थी। इसकी जगह वह पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप जैसी योजनाओं पर जोर दे रही है। इस योजना में सरकारी धन तो लग रहा है लेकिन लाभ निजी एजेंसियाँ कमा रही हैं। शिक्षकों को सरकारी फैसलों के खिलाफ आवाज बुलंद करनी चाहिए। शिक्षक संगठनों ने प्रारंभ में ऐसा किया भी था लेकिन बाद में चुप्पी साध बैठे। इस समय शिक्षकों के सम्मान के लिए सबसे जरूरी यह है कि उनके काडर को बचाया जाए और शिक्षा के महती कार्य में बगैर किसी



व्यवधान के उन्हें लगाया जाए। स्कूल-कॉलेजों में शिक्षकों के जितने खाली पद हैं, उन्हें भी अविलंब भरा जाना चाहिए। शिक्षक तभी सम्मानित रह पाएंगे जब शिक्षा पर सरकारी पकड़ बनी रहे। शिक्षा को बाजार के हवाले करने का अर्थ यही है कि शिक्षक भी बाजार के हवाले हैं। मैं समझता हूँ कि शिक्षक भी बाजार के हवाले हैं। मैं समझता हूँ कि शिक्षक जिन मूल्यों के संवाहक हैं, वह शिक्षा के बाजारीकरण के दौर में कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकते।

पांच साल पहले मुंबई में आयोजित एक शैक्षिक सेमिनार में अंग्रेजी के एक राष्ट्रीय दैनिक के संपादक ने गर्व से बताया कि 1970 के दशक में कक्षा सात तक उन्होंने मुंबई महानगरपालिका के स्कूल में पढ़ाई की। जाहिर है, उनकी शिक्षा का माध्यम मराठी था। विडंबना देखिए कि उसी महानगरपालिका ने हाल ही में फैसला लिया है कि वह अपने 1200 प्राथमिक स्कूलों को कॉरपोरेट और एनजीओ को सौंपेगी। कारण बताया गया कि इन्हें गुणवत्ता के साथ चलाना महानगरपालिका के बस का नहीं है। मुंबई की यह सोच पूरे देश की सोच बन चुकी है। पिछले साल कर्नाटक सरकार ने 3000 सरकारी स्कूलों को बंद करने की घोषणा की। इसी सरकार ने कुछ साल पहले प्रदेश की शैक्षिक शोध और प्रशिक्षण परिषद को देश के एक ताकतवर कॉरपोरेट को सौंपने का फैसला ले लिया था। हालांकि लोगों के तीखे विरोध के कारण उसकी मंशा कामयाब नहीं हो पाई। सरकार की मंशा देश के 12 लाख सरकारी स्कूलों की व्यवस्था खत्म करने की है। इसकी जगह मनमाफिक फीस लेने वाले निजी स्कूल रह जाएंगे।

गौर करने वाली बात है कि 1991 में जब वैश्वीकरण की नीतियों पर भारत के चलने की घोषणा हुई तो शिक्षा की बागडोर सरकार ने अपने हाथों से छोड़ना तय किया। 1990 में भारत शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का चार प्रतिशत खर्च करता था, जो घटते-घटते आज 3.5 फीसद पर आ टिका है। कोठारी आयोग के अनुसार यह राशि छह प्रतिशत तय की गई थी। जाहिर है, जरूरत की तुलना में आधी से थोड़ी ही अधिक राशि खर्च की जा रही है। उच्च शिक्षा को तो और भी बिकाऊ माल बनाकर छोड़ा गया है।

आज सरकार के पास 500 से अधिक विश्वविद्यालयों और 25 हजार कॉलेजों की बेहतरी के लिए कोई ठोस योजना नहीं है। निजी विश्वविद्यालय फटाफट खुल रहे हैं और उनका एकमात्र ध्येय शिक्षा का व्यवसायीकरण कर पैसों का दोहन करना है। हम सुपर पावर होने की बात करते हैं लेकिन जा किस रास्ते पर रहे हैं? दुनिया की आवादी में हमारा हिस्सा सत्रह प्रतिशत है जबकि अमेरिका का केवल साढ़े चार प्रतिशत। जाहिर है, ऐसे में अगर हमारी शिक्षा व्यवस्था दुरुस्त होती तो बेहतर मानव संसाधन हमारे पास होता और हम आगे निकल गए होते। शिक्षा का मकसद तो बेहतर समाज का निर्माण करना है जबकि सरकार वैश्विक बाजार और पूंजी के लिए पैदल सिपाहियों की फौज खड़ी करने में जुटी है। शिक्षा का स्तर सुधरने का मतलब यह नहीं कि हमारे यहां स्नातकों की भीड़ हो जाए। हमारे पास स्नातक भले ही अमेरिका से अधिक हों, लेकिन हम फिर भी पिछड़ेंगे। कारण, वहां जो शोध होगा, वह हमसे काफी बेहतर होगा। इंजीनियरिंग और मेडिकल क्षेत्र में भी ऐसा ही हाल है। लोगों को डिप्रियों के बाद भी नौकरी नहीं मिल रही। क्या हम सोचेंगे कि हम कैसा समाज बनाने जा रहे हैं? हमारे संविधान का तकाजा यही है कि हर बच्चे को केजी से लेकर पीजी तक मुफ्त शिक्षा का बराबरी का असर मिले। इतिहास इस बात का गवाह रहा है कि उन देशों ने ही शैक्षिक-बौद्धिक तरक्की हासिल की है जहां समान स्कूल व्यवस्था का ऐतिहासिक विकल्प अपनाया गया है। अमेरिका, रूस, कनाडा, जर्मनी, फ्रांस, जापान सब देशों पर यही बात लागू होती है। हाल में फिनलैंड ने इस व्यवस्था को अपनाया। तीन दशक पहले यह देश शिक्षा में यूरोप के देशों में सबसे नीचे था लेकिन नई राह पर चल कर इसने क्रांति ला दी। आज वहां एक भी निजी स्कूल और कॉलेज नहीं है और वहाँ की शिक्षा व्यवस्था बेहतरीन है। हम जैसे शिक्षक बना रहे हैं, हो सकता है, उनसे बेहतर वहाँ के छात्र हों। यह अतिशयोक्ति लग सकती है लेकिन हम इसी राह पर हैं। क्या हम अपनी राह बदलेंगे?

□ □ □

(लेखक जाने-माने शिक्षाविद हैं)

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)



गलत नीतियों के चक्रव्यूह में शिक्षक

• प्रो. अनिल सदगोपाल

जिन उदारवादी नीतियों से शिक्षा व्यवस्था समाज को लूटने का जरिया बनी हैं, उन्हीं के जरिए देश के जनमानस को कमजोर किया जा रहा है। यह लड़ाई महज शिक्षा व्यवस्था को बचाने की नहीं है, इसीलिए अपने अर्थवाद के सीमित दायरों से बाहर निकलकर शिक्षक संगठनों को भी नवउदारवाद के खिलाफ देशभर में उभर रही चेतना से जुड़ना होगा।

सन् 1986 की शिक्षा नीति के अनुसार, 'किसी समाज में अध्यापकों के दर्जे से उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि का पता लगता है। कहा गया है कि कोई भी राष्ट्र अपने अध्यापकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता।' इसके बावजूद नीति में व्यक्त राय का उसी नीति के द्वारा उल्लंघन शुरू होगा। इस नीति ने देश के आधे से अधिक बच्चों को शिक्षित करने के लिए नियमित शिक्षकों के बजाय अर्हता-विहीन, प्रशिक्षण-विहीन और वेतनमान-विहीन शिक्षकों को ठेके पर नियुक्त करने की नीति लागू कर दी। सन् 1991 में वैश्वीकरण की घोषणा के बाद विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष ने भारत पर संरचनात्मक समायोजन की शर्त थोपी, जिसके तहत सरकार को शिक्षा, स्वास्थ्य व सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों पर हर साल सार्वजनिक खर्च में कटौती करने के लिए मजबूर होना पड़ा। यहां से शुरू हुई शिक्षकों को पैरा-टीचर के नाम पर ठेके पर नियुक्त सम्मानविहीन निचले दर्जे के कर्मचारियों में बदलने की परिपाटी। तब से ये पैरा-टीचर आए दिन सड़कों पर उतरकर अपने लिए सम्मान का दर्जा पाने की लड़ाई लड़ने के लिए मजबूर होते रहे हैं। लेकिन इससे शासक वर्ग को फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उनके बच्चे जो इन 11 लाख सरकारी स्कूलों में नहीं पढ़ते।

ऊपर से तुरा यह कि इन शिक्षकों से बच्चों को पढ़ाने

के अलावा नाना प्रकार के गैर-शैक्षणिक काम करवाए जाते हैं। चार साल पहले तक ये काम शासकीय आदेशों के बल पर करवाए जाते हैं। चार साल पहले तक ये काम शासकीय आदेशों के बल पर करवाए जाते थे। सन् 2009 में पारित भ्रामक शिक्षा का अधिकार कानून ने शिक्षकों से पंचायतों से संसद तक चुनाव, जनगणना और अभी तक अपरिभाषित आपदा राहत काम करवाने को वैधानिक जामा पहना दिया। आजादी के बाद के तीन दशकों में मध्यम वर्ग समेत अधिकांश तबकों के बच्चे सरकारी स्कूलों में ही पढ़ते थे और वहीं से देश के आईएएस, आईपीएस, वैज्ञानिक, इंजीनियर, डॉक्टर, अर्थशास्त्री, जज, पत्रकार आदि पढ़कर निकले। लेकिन पिछले तीन दशकों में उस सार्वजनिक व्यवस्था को एक बहुपरती स्कूल व्यवस्था में तब्दील कर दिया गया। हर आर्थिक व सामाजिक परत के लिए एक अलग स्कूल व्यवस्था। आज जब सरकारी स्कूल के शिक्षक गैर-शैक्षणिक कामों में जोत दिए जाते हैं, तब निजी महंगे स्कूलों में पढ़ने वाले मध्यम व ऊपरी मध्यम वर्ग के बच्चे नियमित रूप से पढ़ाई जारी रखकर अपने कैरियर के निर्माण में लगे रहते हैं। लेकिन उसी दौर में सरकारी स्कूलों के 80 फीसद बच्चे दलित, आदिवासी, मुस्लिम एवं अन्य पिछड़े वर्गों के कभी देश के विकास की योजनाओं (जनगणना पर टिकी हुई) और कभी लोकतंत्र (चुनाव-आधारित) के



लिए अपनी पढ़ाई का त्याग करते हैं। साल-दर-साल अंतर्राष्ट्रीय एनजीओ सर्वे रिपोर्ट निकालकर घोषणा करते हैं कि सरकारी स्कूलों में पाँचवीं आठवीं कक्षाओं के बच्चों का ज्ञान दूसरी कक्षा के स्तर का भी नहीं है। इस नुकसान के लिए भी शिक्षकों को ही जिम्मेदार माना जाता है, उन नीतियों और गैरबराबरी व भेदभाव पर टिकी हुई स्कूल व्यवस्था को नहीं, जिसमें ये शिक्षक पढ़ाते हैं।

निजीकरण-बाजारीकरण की एक और मार शिक्षकों पर पड़ रही है। बी-एड और डी-एड के कोर्स संचालित करने वाले अध्यापन-शिक्षण संस्थानों की भी कुकुरमुत्तों की तरह दुकानें खुल गई हैं, जहां अध्यापक बनने का शिक्षण पाने की भी जरूरत नहीं रह गई है। दाखिले के लिए अपनी जमीनें-जेवर गिरवी रखकर मुंहमांगी फीसें जमा करो और बिना किसी पढ़ाई-लिखाई के डिग्री पाओ, यह एक आम रिवाज बनता जा रहा है। फिर पैरा-टीचर की ठेकेवाली नौकरी पाने के लिए भी जमीनें-जेवर गिरवी रखकर रिश्वत दो। यह सब करने के बाद यह उम्मीद करना फिजूल ही नहीं, वरन नाइंसाफी भी है कि ये शिक्षक ईमानदारी के साथ बच्चों को रोज पढ़ाएंगे और ट्यूशन-कोचिंग करके अपना कर्ज नहीं चुकाएंगे।

वैसे भी बी-एड और डी-एड के कोर्सों में पिछड़े आर्थिक वर्गों, पिछड़ी जातियों, अल्पसंख्यकों व विकलांगों और खासकर इन तबकों की लड़कियों को पढ़ाने के लिए समानता और सामाजिक न्याय के संवैधानिक सिद्धांतों की समझ और संवेदनशीलता जरूरी है। लेकिन इन कोर्सों का अधिकांश हिस्सा अभी भी गुलाम कामगार बनाने वाली मैकॉले की शिक्षा को ही आगे बढ़ाता है। फर्क केवल यह है कि उस दौर में ये कामगार ब्रिटिश राज के लिए बनाए जाते थे और आज वैश्विक बाजार व बहुराष्ट्रीय कॉर्पोरेट पूंजी के लिए। तो इस पाठ्यचर्या से तैयार किया गया शिक्षक एक लोकतांत्रिक, समतामूलक, न्यायशील, वैज्ञानिक और प्रबुद्ध समाज के निर्माण के लिए भला कैसे काम कर पाएगा? यही वह चक्रव्यूह है, जिसमें देश के एक करोड़ शिक्षक प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च शिक्षा तक फंसे हुए हैं। इस चक्रव्यूह से निकलने के लिए उनकी न तो शासक वर्ग मदद करेगा और न ही कॉर्पोरेट पूंजी। शिक्षक संगठनों

को समझना होगा कि उनकी मदद अगर कोई कर सकता है तो वह है देश का वह विशाल, लेकिन शोषित व दबा-कुचला वर्ग, जिसके बच्चों को शिक्षित करने का उन्हें ऐतिहासिक मौका मिला है। सटीक रणनीति का पहला तकाजा यह है कि शिक्षक संगठन तय करें कि उनके श्रम के हो रहे शोषण के बावजूद वे अपनी पूरी चेतना व क्षमता के साथ बच्चों को लोकतांत्रिक व वैज्ञानिक शिक्षा देकर सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई के लिए तैयार करेंगे। उसी रणनीति का दूसरा तकाजा है कि शिक्षक संगठन तय करें कि उनके श्रम के हो रहे शोषण के बावजूद वे अपनी पूरी चेतना व क्षमता के साथ बच्चों को लोकतांत्रिक व वैज्ञानिक शिक्षा देकर सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई के लिए तैयार करेंगे। उसी रणनीति का दूसरा तकाजा है कि शिक्षक संगठन बच्चों के अभिभावकों की आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक लड़ाइयों में सक्रिय हिस्सेदारी करें। ऐसा करते हुए उनके सामने यह चुनौती भी होगी कि सामाजिक परिवर्तन की इस लड़ाई को वे अपने ज्ञान से समृद्ध करें।

रणनीति का तीसरा तकाजा होगा कि वे समझें कि वैश्वीकरण के तहत जिन नवउदारवादी नीतियों से शिक्षा व्यवस्था समाज को बांटने और लूटने का जरिया बनी है, उन्हीं के चलते देश के प्राकृतिक संसाधनों और ज्ञान को लूटा जा रहा है, जनमानस को कमजोर किया जा रहा है। तो फिर यह लड़ाई महज शिक्षा व्यवस्था को बचाने की नहीं, अपने जल-जंगल-जमीन और जीविका को बचाने की लड़ाई लड़ रही उस जनता की भी है, जिससे आमतौर पर शिक्षक जुड़ नहीं पाते। इसलिए अपने अर्थवाद के सीमित दायरों से बाहर निकलकर शिक्षक संगठनों को नवदारवाद के खिलाफ देशभर में उभर रही चेतना से जुड़ना होगा। तभी वे नवउदारवाद के अपने चक्रव्यूह को तोड़ने में सफल होंगे और मुक्ति की शिक्षा का संदेश देते हुए अपनी गरिमा स्थापित कर पाएंगे।

□ □ □

(लेखक वरिष्ठ शिक्षाविद् व दिल्ली विश्वविद्यालय शिक्षा संकाय के पूर्व डीन हैं)

(साभार : पीपुल्स समाचार)



बोझ नहीं, हमारी जिम्मेदारी हैं बुजुर्ग

• डॉ. एम सी नाहटा

व | रिष्ठ नागरिकों की बढ़ती संख्या की दृष्टि से हम वृद्ध होते विश्व में रह रहे हैं। वर्तमान में विश्व में 60 करोड़ से अधिक आबादी 60 वर्ष से अधिक आयुवर्ग की है। अनुमान है कि बुजुर्गों की यह तादाद 2025 तक दोगुनी हो जाएगी। भारतीय परिदृश्य भी भिन्न नहीं है। 2001 में बुजुर्गों की आबादी 7.7 करोड़ थी, जो 2011 में 9.85 करोड़ तक पहुंच गई। विश्व बैंक के अनुसार 2010 से 2015 के बीच दक्षिण एशिया में वरिष्ठ नागरिकों की संख्या नाटकीय रूप से 9 गुना बढ़ेगी तथा पुरुषों की औसत आयु 75 एवं महिलाओं की 82 वर्ष हो जाएगी। औसत आयु में वृद्धि चिकित्सकीय प्रयासों, स्वास्थ्य के प्रति जागरुकता तथा अच्छी जीवनशैली के कारण है। बढ़ती उम्र के कारण आयु आधारित रोगों में वृद्धि हुई है और संयुक्त परिवार प्रणाली के विघटन के कारण इस वर्ग के सामने समस्याओं का अंवार लग गया है, जिनमें गिरता स्वास्थ्य, कुपोषण, आवस समस्या डर, अवसाद, अलगाव, एकीकपन, अनुत्पादकता, नीरसता, आर्थिक कमजोरी प्रमुख हैं। इस वर्ग की समस्याओं के निराकरण हेतु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पहला प्रयास 1948 में अर्जेंटीना की पहल से हुआ था, जिसे 1969 में माल्टा ने पुनः उठाया था। इस विषय पर 1982 में पहला अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन वियना में आयोजित हुआ। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 16 सितंबर 1991 को 18 सिद्धांत स्वीकार इस क्षेत्र को 5 समूहों में विभाजित कर कार्य को नई दिशा देने हेतु पहल की। इसी संगठन ने 1992 में निर्णय कर वर्ष 1999 को 'अंतर्राष्ट्रीय वृद्धजन वर्ष' घोषित किया था। अन्य प्रयासों में 2002 में शंघाई कार्ययोजना, 2007 में मकाऊ अभिलेख बना तथा प्रतिवर्ष 21 अगस्त एवं 1 अक्टूबर को क्रमशः 'विश्व वरिष्ठ नागरिक दिवस' एवं 'अंतर्राष्ट्रीय वृद्धजन दिवस' के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 41 एवं 46 में इस वर्ग हेतु प्रावधान किए गए हैं। 1999 तथा 2011 में घोषित नीति में अनेक सुविधाएं दी गईं तथा 2007 में इसी वर्ग हेतु एक कानून भी बनाया गया। अशासकीय स्तर पर अनेक

स्वयंसेवी संगठनों की लंबी कतार है, जो इस वर्ग के कल्याण हेतु किए जा रहे कार्यों का ढिंढोरा खूब पीटते हैं, किंतु वस्तुस्थिति भिन्न दिखाई देती है। इस वर्ग की कठिनाइयों के उदाहरण रोज सामने आते हैं। प्रति 10 बुजुर्ग जोड़ों में 6 अपना घर छोड़ने को बाध्य हैं। अतः गंभीर चिंतन का यह उचित अवसर है।

इस वर्ग की समस्याओं के निराकरण हेतु प्राथमिकता के आधार पर क्षेत्रों का चयन कर उनमें सुविधाओं के प्रावधान भी करना पड़ेंगे। इस दृष्टि से स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, आवस, पोषणयुक्त भोजन की उपलब्धता, मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा बीमा प्रदान पायदान पर हैं। इस वर्ग के कल्याण हेतु सामाजिक सुरक्षा योजना, अतिवृद्ध की श्रेणी में 70 वर्ष के पार वर्ग का अलग से वर्गीकरण तथा समस्याओं के निदान हेतु नोडल एजेंसी के गठन से समस्याओं के निराकरण में काफी सहायता मिलेगी। स्वास्थ्य संबंधी समस्या के निराकरण हेतु जिला स्तर पर जीरियाटिक क्लीनिक की स्थापना कारगर साबित हो सकती है। संयुक्त परिवार प्रणाली लगातार टूट रही है। अतः इस वर्ग की देखभाल को संवैधानिक कर्तव्य का रूप देकर एक ऐसा कानून बनाना पड़ेगा, जिसके अंतर्गत वरिष्ठ नागरिकों को पर्याप्त सुरक्षा तथा सुविधाएं प्राप्त हो सकें। युवा वर्ग को भी समझना होगा कि वे बुजुर्ग माता-पिता को बोझ नहीं, जिम्मेदारी मानें। पारिवारिक कलुषित वातावरण तथा असहाय स्थिति से मुक्ति हेतु वृद्धाश्रम व्यवस्था अच्छा विकल्प जरूर हो सकता है, किंतु सीमित संख्या तथा सुविधाओं के अभाव के कारण इन्हें स्वीकारने की मानसिकता नहीं बन पाई है। इनमें सुधार तथा विस्तार की आवश्यकता है। विशाल आबादी वाले इस वर्ग का दायित्व केवल शासकीय स्रोत नहीं उठा सकते। इसमें स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका अहम है। वर्तमान सामाजिक परिदृश्य में कॉपोरेट सेक्टर तथा अनुभवी सामाजिक कार्यकर्ता रचनात्मक भूमिका निभा सकते हैं।

(लेखक विख्यात चिकित्सक व लोकसेवा आयोग के पूर्व सदस्य हैं)

(साभार : नवदुनिया)



अवैध खनन द्वारा नदियों से खिलवाड़

• मुकुल श्रीवास्तव



पक्के निर्माण के बढ़ते चलन और प्रकृति प्रदत्त चीजों पर निर्भरता कम होने का परिणाम है बढ़ता शहरीकरण। आज गांव सिमट रहे हैं और शहर भर रहे हैं। चूंकि गांवों में अभी भी आधारभूत ढांचे का अभाव है इसीलिए आर्थिक रूप से थोड़ा-बहुत हर ग्रामीण शहर में बसने के सपने देखता है या शहर की तरह गांव में पक्का घर का निर्माण चाहता है और यह प्रक्रिया आवास निर्माण उद्योग में क्रांति ला रही है और पक्के निर्माण विकसित होने की निशानी माने जा रहे हैं। देश की तरक्की के लिए विकास जरूरी है पर अनियोजित विकास, समस्याएं ही बढ़ाएगा जिसकी कीमत आज नहीं तो कल हम सबको चुकानी ही पड़ेगी।



रो | टी कपड़ा और मकान के संकट से जूझते एक आम भारतीय के लिए पर्यावरण या उससे होने वाला नुकसान अभी भी कोई मुद्दा नहीं है और अवैध बालू खनन भी एक ऐसा मामला है जो हमें महज एक कानूनी मसला लगता है। बालू के अवैध खनन के पीछे एक बड़ा कारण इसका भारी होना भी है जिसके कारण बालू को दूर तक ले जाना मुश्किल होता है। इसीलिए निर्माण कंपनियां आसपास के इलाकों से बालू निकालने को प्राथमिकता देती हैं। बालू का इस्तेमाल कांक्रीट में मिलाने और ईंट बनाने के लिए किया जाता है। हालांकि सरकार ने बालू खनन के लिए लाइसेंस की व्यवस्था की है, पर मांग बहुत ज्यादा है जिससे लाइसेंस व्यवस्था को लगातार अनदेखा कर अवैध खनन को बढ़ावा मिलता है।

बगैर ज्यादा लागत के ये बहुत मुनाफे वाला सौदा है लेकिन अंधाधुंध और अनियंत्रित बालू उत्खनन से नदी के किनारों का घिसाव होता है जिसका परिणाम जैव-विविधता के नुकसान के रूप में सामने आता है। किनारे कटने से वहां पनपने वाली वनस्पतियां नष्ट होती हैं और वहां पलने वाले जीव-जंतुओं का प्राकृतिक आवास समाप्त होता है। इसके परिणामस्वरूप नदी के पानी को धारण करने और नदी को दोबारा जल मुहैया कराने वाली व्यवस्था को हानि

पहुंचाती है। पर अंधाधुंध विकास के चक्कर में इसकी परवाह किसे है क्योंकि विकास का आंकलन आर्थिक नजरिए से किया जाता है। यही कसौटी भी है और यही परिणाम भी। उपभोक्तावाद ने हमें इतना अधीर कर दिया है कि विकास का मापदंड सिर्फ भौतिकवादी चीजें और पैसा ही रह गया है।

पक्के निर्माण के बढ़ते चलन और प्रकृति प्रदत्त चीजों पर निर्भरता कम होने का परिणाम है बढ़ता शहरीकरण। आज गांव सिमट रहे हैं और शहर भर रहे हैं। चूंकि गांवों में अभी भी आधारभूत ढांचे का अभाव है इसीलिए आर्थिक रूप से थोड़ा-बहुत हर ग्रामीण शहर में बसने के सपने देखता है या शहर की तरह गांव में पक्का घर का निर्माण चाहता है और यह प्रक्रिया आवास निर्माण उद्योग में क्रांति ला रही है और पक्के निर्माण विकसित होने की निशानी माने जा रहे हैं। देश की तरक्की के लिए विकास जरूरी है पर अनियोजित विकास, समस्याएं ही बढ़ाएगा जिसकी कीमत आज नहीं तो कल हम सबको चुकानी ही पड़ेगी।

2009 में निर्माण उद्योग ने देश के सकल घरेलू उत्पाद में 8.9 प्रतिशत का योगदान दिया, जो 2005 के 7.4 प्रतिशत से ज्यादा है। योजना आयोग के अनुसार अगर देश को लगातार बढ़ते रहना है तो 31 मार्च 2017



को खत्म होने वाले वित्त वर्ष में अवसंरचना क्षेत्र में निवेश को जीडीपी का दस प्रतिशत करना होगा, जो पहले पांच साल के आठ प्रतिशत से ऊपर होगा। भारत भले ही गांवों का देश हो, पर आज पूरे देश में शहरीकरण की बयार बह रही है। 2011 की जनगणना के आंकड़ों के मुताबिक कुल 121 करोड़ की आबादी में 37.71 करोड़ लोग शहरों में रहते हैं। भविष्य में इस तस्वीर की बहुत तेजी से बदलने की संभावना है।

अनुमान के मुताबिक शहरीकरण की वर्तमान दर 31.1 प्रतिशत है जो 2030 तक चालीस प्रतिशत हो जाएगी। बढ़ता शहरीकरण रीयल एस्टेट और आवास जैसे क्षेत्रों में मांग बढ़ा रहा है। आंकड़े के अनुसार पिछले दस सालों में आवास क्षेत्र में बत्तीस प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। जैसे-जैसे भारत का शहरीकरण बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे मकानों वाली भूमि का आकार बढ़ता जाएगा। यह 2005 के आठ अरब वर्ग मीटर से बढ़कर 2030 तक 41 अरब वर्ग मीटर तक फैल सकता है। अर्थव्यवस्था को गति देने के लिए के लिए अगले पांच सालों में एक ट्रिलियन डॉलर सार्वजनिक और निजी निवेश की जरूरत होगी। यह निवेश सड़कों, विमानपत्तन और नौकरियों में होगा। अगर ये अनुमानित निवेश हो जाता है, तो बालू जैसे अवसंरचना में लगने वाले कच्चे माल की मांग तीन गुना तक बढ़ जाएगी और बालू आपूर्तिकर्ताओं पर बेतहाशा दबाव बढ़ेगा और ये दबाव कहीं न कहीं अवैध बालू खनन को बढ़ावा देगा।

बात जब निर्माण की होती है तब हम सीमेंट के बारे में सोचते हैं। लेकिन सीमेंट तो मात्र जोड़ने वाला एक पदार्थ है, निर्माण का मुख्य अवयव है बालू और पत्थर या ईंट। बालू का कोई और सस्ता सुलभ विकल्प न होने का कारण उसका अवैध खनन होता है जिसकी हमारी नदियां चुकाती हैं। उत्तराखंड हादसा हुए अभी ज्यादा वक्त नहीं बीता जिसको हमें चेताया। पर इस चेतावनी को समझने के लिए हजारों लोगों को अपनी जान देनी पड़ी, सैकड़ों घायल हुए और बेघर भी। बालू का अवैध खनन मैदानी क्षेत्रों के पर्यावरण को कितनी बुरी तरह प्रभावित कर रहा

है इसका वास्तविक आंकलन होना अभी बाकी है, पर हम जिस तरह अपने पर्यावरण से खेल रहे हैं वह वास्तव में एक खतरनाक खेल है। कानून में बड़े खनिजों जैसे कोयले, हीरे अथवा सोने के विपरीत रेत को 'लघु खनिज' कहा जाता है।

कानूनन पांच हेक्टेयर से अधिक क्षेत्र में खनन लीज के लिए पर्यावरण संबंधी अनुमति लेना आवश्यक है। हालांकि नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल (एनजीटी) ने अपने दिए एक आदेश में अब पांच हेक्टेयर से कम क्षेत्र में भी खनन को केंद्रीय पर्यावरण एवं वन मंत्रालय या संबंधित राज्य के पर्यावरण प्रभाव आंकलन प्राधिकरण से अनुमति को अनिवार्य कर दिया है। खान और खनिज (विकास और नियामक) एक्ट 1957 (मई 2012 में संशोधित) के मुताबिक रेत खनन करने वालों को राज्य के प्राधिकारियों से एक लाइसेंस लेना होता है और बालू की मात्रा के मुताबिक शुल्क देना होता है। यह ब्रिकी दाम का करीब आठ प्रतिशत हो सकता है। बगैर अनुमति बालू खोदने की सजा दो साल तक की जेल या 25 हजार रुपए का जुर्माना अथवा दोनों हो सकते हैं। अवैध रेत खनन को रोकने को लेकर समस्या यह है कि निर्माण में बालू के ज्यादा विकल्प नहीं हैं और जो विकल्प हैं भी वे बालू के मुकाबले महंगे हैं।

पर्यावरण जागरूकता के अभाव में और 'जरा-सा' बालू निकालने से नदी कौन-सी सूख जाएगी' वाली मानसिकता नदियों के प्रवाह तंत्र को प्रभावित करके पर्यावरण के लिए गंभीर खतरा उत्पन्न कर रही है। अब समय आ गया है कि पर्यावरण की दृष्टि के अनुकूल बालू का कोई ऐसा विकल्प ढूंढा जाए जिससे अवैध बालू का कोई ऐसा विकल्प ढूंढा जाए जिससे अवैध बालू खनन पर रोक लगे और अवैध बालू जैसे लघु खनिजों से संबंधित कानूनों को और कड़ा किया जाए। हमें अमेरिका और ब्रिटेन जैसे विकसित देशों से सबक लेना होगा जिन्होंने समय रहते अपने पर्यावरण संबंधी कानूनों को कड़ा किया और यह भी सुनिश्चित किया कि इन कानूनों का कड़ाई से पालन हो।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)





आम आदमी को दी गई राहत टिकाऊ तब ही होगी जब साथ-साथ अर्थव्यवस्था आगे बढ़ती रहे

आर्थिक विकास के साथ खाद्य सुरक्षा

● डॉ. भरत झुनझुनवाला

“गरीबों को उचित लाभ देना है, तो उनके लिए चलाये जा रहे चारों कार्यक्रमों को पूरी तरह बन्द कर दिया जाये। इससे केन्द्र सरकार को 362 हजार करोड़ रुपये प्रति वर्ष की बचत होगी। इस रकम को बीपीएल कार्ड धारकों को सीधे दे दिया जाये। 80 करोड़ गरीबों में प्रत्येक को रु. 4500 प्रति वर्ष मिल जायेंगे। पांच व्यक्तियों के परिवार को रु. 2,000 प्रति माह मिलेंगे।”

ग ये तीन माह से हमारी अर्थव्यवस्था दबाव में है। रुपया लुढ़क रहा है और महंगाई चढ़ रही है। साथ-साथ आम आदमी भी असन्तुष्ट दिखता है। अर्थव्यवस्था का हाल जो भी हो, आम आदमी को राहत देने में विलम्ब नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से खाद्य सुरक्षा कानून का स्वागत किया जाना चाहिये। परन्तु आम आदमी को दी गई राहत टिकाऊ तब ही होगी जब साथ-साथ अर्थव्यवस्था आगे बढ़ती रहे। वर्तमान खाद्य सुरक्षा कानून में समस्या है कि अर्थव्यवस्था पर बोझ बढ़ेगा और सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के साथ आम आदमी भी तबाह हो सकता है।

नेक काम को हाथ में लेने के पहले उसे निर्वाह करने का सामर्थ्य जुटाना चाहिये। घाटे में चल रही दुकान मालिक लंगर लगाने चले तो एक बार शायद सफल हो भी जाये परन्तु उसकी दुकान खाली हो जायगी और आगे वह न तो दुकान चला पायेगा और न ही लंगर चला पायेगा। ऐसी ही हालत हमारी सरकार की है। सरकार के पास खाद्य सुरक्षा कानून को लागू करने का समर्थ्य नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय रेटिंग एजेंसियां भारत के प्रति पहले ही नकारात्मक हैं। भारत की रेटिंग जंक के ऊपर है। यदि रेटिंग में गिरावट आयी तो तो भारत जंक श्रेणी में आ जायेगा। ऐसे में भारत

से विदेशी पूंजी का और तेजी से पलायन होगा।

यूपीए और एनडीए द्वारा लागू किए गये विकास के माडल में बड़ी कम्पनियों को छूट दी जाती है। ये कम्पनियों को छूट दी जाती है। ये कम्पनियां आटोमैटिक मशीनों से सस्ता माल बनाती हैं। कुटीर उद्योग चौपट हो जाते हैं। बेरोजगारी बढ़ती है। फिर इन्हीं बड़ी कम्पनियों पर टैक्स लगाकर आम आदमी को बेरोजगारी से राहत दी जाती है। अर्थव्यवस्था में जो प्रगति होती है, उसका एक बड़ा हिस्सा प्रगति के दुष्प्रभावों को काटने में व्यय हो जाता है। यही कारण है कि हमारी अर्थव्यवस्था दबाव में है। इस दबाव के बावजूद सरकार ने खाद्य सुरक्षा कानून को लागू करने का निर्णय लिया है, जिससे सरकार पर वित्तीय बोझ बढ़ेगा। इस कारण नई संस्थाओं ने चालू वर्ष की अनुमानित विकास दर को घटाकर लगभग 4.5 प्रतिशत कर दिया है।

इस समस्या का सर्वश्रेष्ठ समाधान है कि पूंजी सघन उद्योगों पर टैक्स बढ़ाया जाये। जैसे चीनी का उत्पादन बड़ी मिलों में आटोमैटिक मशीनों से किया जाता है। खांडसारी उद्योग तुलना में श्रम सघन होता है। ऐसे में चीनी मिलों पर टैक्स बढ़ना चाहिये। ऐसा करने से खंडसारी उद्योग चल निकलेगा और रोजगार स्वतः उत्पन्न होने लगेंगे। सरकार



वर्तमान में गरीबों को राहत देने के लिये केन्द्र सरकार के द्वारा चार बड़े कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं- कृषि समर्थन मूल्य, स्वास्थ्य और शिक्षा, मनरेगा और फर्टिलाइजर सब्सिडी। फसलों को समर्थन मूल्य इस आशय से दिया जाता है कि मूल्य गिरने के कारण किसान घाटा न खाये। स्वास्थ्य एवं शिक्षा कार्यक्रमों का उद्देश्य ग्रामीण इलाकों में इन सुविधाओं को मुहैया कराना है। मनरेगा का उद्देश्य गरीब को वर्ष में 100 दिन का रोजगार न्यूनतम वेतन पर दिया जाता है। फर्टिलाइजर सब्सिडी का उद्देश्य है कि किसान की लागत कम आये और वह घाटा न खाये। वर्ष 2011-12 इन कार्यक्रमों पर केन्द्र सरकार द्वारा कुल 293 हजार करोड़ रुपये खर्च किये गये। वर्ष 2013-14 में इन कार्यक्रमों पर 362 करोड़ खर्च होने का मेरा अनुमान है।

को टैक्स मिलेगा और जनता को रोजगार। नून लगे न फिटकरी रंग भी चोखा आये। इस सुझाव में समस्या डब्ल्यूटीओ की है। चीनी मिल पर टैक्स लगाने से भारत में चीनी का दाम बढ़ जायेगा। दूसरे देशों में सस्ती चीनी आयात करना लाभप्रद हो जायेगा। समाधान है कि आयातों पर इम्पोर्ट

ड्यूटी में समुचित वृद्धि कर दी जाये। इसके लिये जरूरी हो तो डब्ल्यूटीओ से बाहर आने के लिये भी तैयार रहना चाहिये। तथापि इस प्रस्ताव को लागू करना कठिन लगता है चूंकि विकास के मौलिक मॉडल में परिवर्तन करना कठिन होगा।

दूसरा समाधान है कि वर्तमान खर्चों में फेर बदल करके उनकी गुणवत्ता में सुधार किया जाये। वर्तमान में गरीबों को राहत देने के लिये केन्द्र सरकार के द्वारा चार बड़े कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं- कृषि समर्थन मूल्य, स्वास्थ्य और शिक्षा, मनरेगा और फर्टिलाइजर सब्सिडी। फसलों को समर्थन मूल्य इस आशय से दिया जाता है कि मूल्य गिरने के कारण किसान घाटा न खाये। स्वास्थ्य एवं शिक्षा कार्यक्रमों का उद्देश्य ग्रामीण इलाकों में इन सुविधाओं को मुहैया कराना है। मनरेगा का उद्देश्य गरीब को वर्ष में 100 दिन का रोजगार न्यूनतम वेतन पर दिया जाता है। फर्टिलाइजर सब्सिडी का उद्देश्य है कि किसान की लागत कम आये और वह घाटा न खाये। वर्ष 2011-12 इन कार्यक्रमों पर केन्द्र सरकार द्वारा कुल 293 हजार करोड़ रुपये खर्च किये गये। वर्ष 2013-14 में इन कार्यक्रमों पर 362 करोड़ खर्च होने का मेरा अनुमान है।

इन कार्यक्रमों का उद्देश्य गरीब को राहत पहुंचाना है। परन्तु इनमें गरीब का हिस्सा कम ही है। फूड कार्पोरेशन को दी जा रही सब्सिडी मुख्यतः कार्पोरेशन के कर्मियों और बड़ किसानों को ही पहुंचाती है। स्वास्थ्य और शिक्षा पर किये जा रहे खर्च सरकारी टीचरों और डॉक्टरों को पोषित करती है। मनरेगा में सरपंच और विभाग का हिस्सा 25 से 75 प्रतिशत तक बताया जा रहा है। फर्टिलाइजर सब्सिडी अकुशल उत्पादकों तथा बड़े किसानों को जा रही है।

हमें ऐसा उपाय करना चाहिये कि गरीब के नाम पर किये जा रहे खर्च वास्तव में गरीब को पहुंचे। सुझाव है कि इन चारों कार्यक्रमों को पूरी तरह बन्द कर दिया जाये। इससे केन्द्र सरकार को 362 हजार करोड़ रुपये प्रति वर्ष की बचत होगी। इस रकम को बीपीएल कार्ड धारकों को



सीधे दे दिया जाये। 80 करोड़ गरीबों में प्रत्येक को 4500 रुपये प्रति वर्ष मिल जायेंगे। पांच व्यक्तियों को परिवार मानें तो 22,500 प्रति वर्ष या लगभग 2,000 रुपये प्रति माह मिल जायेंगे। विशेष यह कि मनरेगा कि दिखावटी कार्यों को करने में उसके जो 100 दिन व्यर्थ हो जाते हैं वे बच जायेंगे। इन 100 दिनों में 125 रुपये की दिहाड़ी से उसे 12500 रुपये अतिरिक्त मिल जायेंगे। इसे जोड़ लें तो प्रत्येक परिवार को 3000 रुपये प्रतिमाह मिल सकते हैं। इसके लिए केन्द्र सरकार को एक रुपया भी अतिरिक्त नहीं खर्च करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों द्वारा लगभग 360 हजार करोड़ इन मदों पर खर्च किये जा रहे हैं। इस रकम को जोड़ लें तो प्रत्येक बीपीएल परिवार को 5,000 रुपये प्रति माह दिये जा सकते हैं। यह विशाल राशि वर्तमान में गरीब के नाम पर सरकारी कर्मियों, अकुशल उत्पादकों, बड़े किसानों और अमीरों को दी जा रही है। इसे गरीब तक पहुंचा दें तो समस्या हल हो जायेगी। इस रकम से परिवार अपने भोजन, स्वास्थ्य और शिक्षा की व्यवस्था कर सकता है। सरकार ने जो उपाय लागू कर रखा है वह तीसरे स्तर पर निकृष्ट है। इससे बड़ी कम्पनियों द्वारा छोटे लोगों के रोजगार छीने जाते हैं। जैसे हथकरघा देश में समाप्तप्राय हो चला है। इसमें जन कल्याण के नाम पर किये गये खर्च के मुख्य लाभार्थी सरकारी कर्मी और नेता होते हैं, जिन्हें रिसाव का बड़ा अवसर मिल जाता है। लेकिन यह मॉडल टिकाऊ नहीं है जैसा कि हाल की घटनाओं से दिखाता है। विपक्ष को चाहिये कि आम आदमी को राहत पहुंचाने का नया कार्यक्रम पेश करे। फूड कार्पोरेशन, स्वास्थ्य एवं शिक्षा, मनरेगा तथा फर्टिलाइजर सब्सिडी कार्यक्रमों को बन्द करके इस रकम को सीधे गरीब को देने की मांग करनी चाहिये। ऐसा करने से बाजार को सरकार के बढ़ते खर्च पोषित करने के लिये भारी मात्रा में अतिरिक्त ऋण नहीं लेने पड़ेंगे। सरकार का वित्तीय घाटा नियंत्रण में आयेगा। सरकार को देश के उद्यमियों पर अतिरिक्त टैक्स नहीं लगाना पड़ेगा। ये माना कि ये कुछ कड़े फैसले हैं, जिससे टैक्स देने वालों को थोड़ी तकलीफ होगी, लेकिन

मनरेगा कि दिखावटी कार्यों को करने में उसके जो 100 दिन व्यर्थ हो जाते हैं वे बच जायेंगे। इन 100 दिनों में 125 रुपये की दिहाड़ी से उसे 12500 रुपये अतिरिक्त मिल जायेंगे। इसे जोड़ लें तो प्रत्येक परिवार को 3000 रुपये प्रतिमाह मिल सकते हैं। इसके लिए केन्द्र सरकार को एक रुपया भी अतिरिक्त नहीं खर्च करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों द्वारा लगभग 360 हजार करोड़ इन मदों पर खर्च किये जा रहे हैं। इस रकम को जोड़ लें तो प्रत्येक बीपीएल परिवार को 5,000 रुपये प्रति माह दिये जा सकते हैं। यह विशाल राशि वर्तमान में गरीब के नाम पर सरकारी कर्मियों, अकुशल उत्पादकों, बड़े किसानों और अमीरों को दी जा रही है।

उसका फायदा भी उनके देश और देशवासियों के साथ-साथ उन्हें भी मिलेगा। यह ऐसी कवायद है, जिससे देश तरक्की की राह पर आगे बढ़ेगा, आम लोगों की तकलीफ दूर होगी। निश्चित रूप से उद्योग जगत इस तरह के प्रयासों का स्वागत करेगा, क्योंकि इससे उसकी आय क्षमता भी बढ़ रही है। लेकिन इस लक्ष्य को पाने के लिए निश्चित रूप से भरपूर ईमानदार कोशिश की जरूरत है। फौरी तौर पर सरकार को यह कदम लाभ का नहीं लगेगा, लेकिन कुछ ही समय में खजाने में बढ़ोत्तरी उनके तमाम संकट को दूर कर देगी। सरकार को टैक्स ज्यादा मिलेगा और रुपया संभल जायेगा। जनता भी खुशहाल होगी।

(साभार : पीपुल्स समाचार)

□ □ □



ताकि शिक्षक बनें युवा

● आनंद कुमार



लोगों की सोच बदलनी होगी, युवाओं में शिक्षा के प्रति रुझान को और बढ़ाना होगा, तभी समाज में अच्छे शिक्षक आएंगे व शैक्षणिक माहौल बेहतर होगा।

चाक, गीली मिट्टी, चाक की चाल और फिर कुम्हार के हाथों का कमाल, एक ऐसी रचना जब मिट्टी आकार ले लेती है। अब मिट्टी से राम बना लो, या रावण, गीली मिट्टी को कुछ फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि इसकी कमान तो उस कुम्हार के हाथों में है, जिसमें सृजन की विलक्षण प्रतिभा है। सच में देश के भविष्य निर्माण के लिए नई पीढ़ी को तैयार करने में शिक्षक की भी भूमिका एक कुशल कुम्हार से कम नहीं है, लेकिन अगर निपुण कुम्हार न हो, तो फिर गीली मिट्टी आकार कैसी लेगी।

आज हमारे देश में लगातार शिक्षकों की कमी होती जा रही है। आखिर क्या वजह है कि प्रतिभा सम्मान युवा पीढ़ी आज शिक्षक नहीं बनना चाहती है। आज शिक्षक दिवस, यानी एक और दिन शिक्षकों को याद कर उन्हें सम्मान देने के साथ ही वक्त है, इस सवाल का जवाब तलाशने का भी कि कैसे हमारी युवा पीढ़ी को एक आदर्श शिक्षक बनाने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। क्या देश में आज भी वैसे शिक्षक हैं, जिनके सानिध्य में सी.वी. रमन और होमी जहांगीर भाभा जैसे विद्वान पैदा हुए, जिन्होंने डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जैसी प्रतिभा को अपनी ज्ञान सरिता दी और जिन लोगों के नाम मैं ले रहा हूँ, क्या वे किसी ऐसे शिक्षक से पढ़े थे, जिन्होंने आईआईटी से पढ़ाई की थी या एमबीए किया था। कम से कम उनकी प्रारंभिक शिक्षा, जो कि उनके भविष्य की नींव थी, ऐसे शिक्षकों की देखरेख में नहीं हुई थी। वो ऐसे शिक्षक थे, जिनके पास कोई भारी-भरकम डिग्री नहीं थी, लेकिन शिक्षण के प्रति प्यास थी

और विद्यार्थियों का भविष्य निर्माण को अपना धर्म समझते थे। लेकिन आज ऐसे शिक्षकों की तो बात ही छोड़ दें, देश के कई विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षकों की लाखों खाली सीटें भारत के भविष्य निर्माण पर प्रश्न तो जरूर खड़े कर दिए हैं। अगर हम विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आंकड़ों पर गौर करें, तो विभिन्न महाविद्यालयों को सुचारू ढंग से संचालित करने के लिए अभी लगभग 14 लाख शिक्षकों की तत्काल जरूरत है। मानव संसाधन मंत्रालय के आंकड़ों के अनुसार उत्तरप्रदेश में 3 लाख, बिहार में 2.60 लाख और पश्चिम बंगाल में 0.1 लाख शिक्षकों की कमी है। देश के विभिन्न सरकारी स्कूलों में स्थायी बाल शिक्षकों में से 20 प्रतिशत राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद के मापदंडों पर खरे नहीं उतरते हैं।

सरकारी संस्थानों में रिक्तियों के लिए आप भले ही सरकार को दोषी ठहरा दें, लेकिन गैर-सरकारी संस्थानों की स्थिति तो और भी दयनीय है। वहां शिक्षकों की भारी कमी तो है और भी दयनीय है। वहां शिक्षकों की भारी कमी तो है ही और जो शिक्षक हैं, उनमें से ज्यादातर की योग्यता समाज में छिपी हुई नहीं है। आज की तारीख में शिक्षक का पेशा लोगों को नीरस लगने लगा है। कभी शिक्षक बनना गौरव का काम माना जाता था, लेकिन आज युवा पीढ़ी शिक्षण को अपने कैरियर के अंतिम विकल्प के तौर पर रखते हैं। अब शुरू से ही बच्चों को उनके माता-पिता शिक्षक बनने के लिए प्रेरित नहीं करते हैं, तो भला युवा



पीढ़ी क्यों सपना पाले एक शिक्षक बनने का। अगर कोई शिक्षक बनेगा, तो उसे क्या मिलेगा। न तो पैसा और न ही ताकत। इन सब के बावजूद मुख्य कारण है कि अब शिक्षकों का समाज में सम्मान नहीं है, जो किसी जमाने में हुआ करता था। आखिर क्या कारण है कि धीरे-धीरे समाज में शिक्षकों का सम्मान और उनकी पहचान घटती जा रही है। धन अर्जित करने के अंधे दौर में शिक्षक भी छात्रों से भेदभाव करने लगे। मेधावी होने के बावजूद बेचारे निर्धन छात्र अपने को हाशिए पर महसूस करने लगे। इसी शुरुआत ने बाद में ट्यूशन और फिर कोचिंग का रूप ले लिया। शुरू में शिक्षक अपने घर पर ही स्कूल या कॉलेज के समय के बाद छात्रों को कोचिंग देते थे, लेकिन जल्द ही कोचिंग ने एक व्यवसाय का रूप धारण कर लिया, प्राइवेट स्कूलों की भी बाढ़ आ गयी, जो गरीब के पहुंच से बाहर बाहर थी।

पैसे की चाह में नैतिक मूल्यों का पतन हुआ और शिक्षक विषय की गहराई में जाने के बजाए शॉर्ट-कट अपनाने लगे। अब छात्र नोट्स नहीं बनाते हैं, बल्कि शिक्षक ही उन्हें बना-बनाया नोट्स उपलब्ध करवा देते हैं। अब ऐसी स्थिति में कोई जिज्ञासु छात्र अगर विषय की गहराई को समझना चाहता है, तो कक्षा में उसका मजाक बन जाता है। स्थिति तो इतनी बदतर हो गई है, कि आजकल के फिल्मों या टीवी सीरियल्स में जब भी किसी क्लास-रूम का दृश्य आता है, तो छात्रों द्वारा शिक्षक का मजाक उड़ाते दिखाया जाता है, और किसी क्षेत्र में जब आत्मसम्मान न हो, जो उससे युवा पीढ़ी कैसे जुड़ सकती है। यहां लोगों की सोच और युवाओं में शिक्षा के प्रति रुझान को बढ़ाना होगा। तभी जाकर समाज में अच्छे शिक्षक आएंगे और बेहतर शैक्षणिक माहौल मिलेगा। यह जिम्मेदारी जितनी सरकार की है, उससे कहीं ज्यादा समाज की है। हमारे देश में उम्दा इंजीनियर, डॉक्टर, वैज्ञानिक या मैनेजर तैयार करने के लिए आईआईटी, एम्स, आईआईएम और आईआईएससी हैं, तो क्या इसी तर्ज पर कुछ टीचर्स ट्रेनिंग सेंटर्स नहीं खोले जा सकते? स्कूलों या कॉलेजों में



पैसे की चाह में नैतिक मूल्यों का पतन हुआ और शिक्षक विषय की गहराई में जाने के बजाए शॉर्ट-कट अपनाने लगे। अब छात्र नोट्स नहीं बनाते हैं, बल्कि शिक्षक ही उन्हें बना-बनाया नोट्स उपलब्ध करवा देते हैं। अब ऐसी स्थिति में कोई जिज्ञासु छात्र अगर विषय की गहराई को समझना चाहता है, तो कक्षा में उसका मजाक बन जाता है। स्थिति तो इतनी बदतर हो गई है, कि आजकल के फिल्मों या टीवी सीरियल्स में जब भी किसी क्लास-रूम का दृश्य आता है, तो छात्रों द्वारा शिक्षक का मजाक उड़ाते दिखाया जाता है, और किसी क्षेत्र में जब आत्मसम्मान न हो, जो उससे युवा पीढ़ी कैसे जुड़ सकती है। यहां लोगों की सोच और युवाओं में शिक्षा के प्रति रुझान को बढ़ाना होगा।



एक ही आयु वर्ग के शिक्षकों की योग्यता के आधार पर अलग-अलग ग्रेड होनी चाहिए और वेतन भी उसी के आधार पर निर्धारित हो। बदलते समय के साथ शिक्षकों की ट्रेनिंग होनी चाहिए, ताकि वे पूरी दुनिया में हो रहे शिक्षण के प्रयोगों से अवगत रहें। अगर सच में ऐसा होता है, तो हमारी नई पीढ़ी शिक्षक बनने में गर्व महसूस करेगी और उसी हालत में स्वर्णिम भारत की कल्पना की जा सकती है।

(साभार : पत्रिका)





... ताकि मिटाए जा सकें दंगों के दाग

● मिहिर आर. भट्ट

दंगे चाहे धार्मिक आधार पर हों या जातिगत आधार पर हों या किसी नए राज्य या जिले के गठन की मांग को लेकर या उसके विरोध में हों, उनका सबसे अधिक खामियाजा गरीब-गुरबों को ही भुगतना पड़ता है। सवाल उठता है कि दंगों की स्थिति में आर्थिक संकट से दो-चार होने के साथ ही सर्वाधिक असुरक्षा के शिकार भी ये लोग ही क्यों बनते हैं?

आ ज राष्ट्रीय एकता परिषद (एनआईसी) की बैठक होने जा रही है। इसमें हाल ही में उत्तरप्रदेश में हुए सांप्रदायिक दंगों के सामाजिक-आर्थिक दुष्परिणामों पर चर्चा की जाएगी। भारत में दंगे होना नई बात नहीं है। न ही हम दंगों के कारणों से गैरवाकिफ हैं। लेकिन यह जरूर चिंता का सबब बनता जा रहा है कि इसके बावजूद पिछले छह दशकों में दंगों के कारणों की पड़ताल करते हुए उनकी संख्या को कम करने में कामयाब नहीं हो सके हैं। ऐसे में बुनियादी सवाल यही है कि भारत में होने वाले दंगों के बारे में हम वास्तव में क्या जानते हैं?

यह एक जाना-माना सच है कि दंगों से सबसे ज्यादा गरीब-गुरबे प्रभावित होते हैं। दंगे चाहे धार्मिक आधार पर हों या जातिगत आधार पर हों या किसी नए राज्य या जिले के गठन की मांग को लेकर या उसके विरोध में हों, उनका सबसे अधिक खामियाजा हथकरघा बुनकरों, बीड़ियां बनाने वालों, दिहाड़ी मजदूरी करने वालों, खेतों में काम करने वालों या रोजी-रोटी की तलाश में जंगलों में जाने वाले लोगों को ही भुगतना पड़ता है। ऐसे में सवाल उठता है कि दंगों की सबसे अधिक कीमत ये गरीब ही क्यों चुकाएं? तनाव की स्थिति निर्मित होने पर आर्थिक संकट से दो-चार होने के साथ ही सर्वाधिक असुरक्षा के शिकार भी ये लोग ही क्यों बनें?

हम जानते हैं कि दंगों के बाद गरीबों के सामने खाद्य संकट और कुपोषण जैसी समस्याएं मुंह बाए खड़ी हो जाती

हैं। रोज कुआं खोदने और पानी पीने वाले लोगों के लिए दो जून की रोटी का बंदोबस्त दुष्कर हो जाता है। सबसे अधिक मुसीबत तो अभी-अभी मां बनी महिलाओं और उनके बच्चों की होती है, जिन्हें पोषण की सख्त दरकार होती है। ऐसे में बुनियादी सवाल यही है कि हमारी खाद्य वितरण प्रणाली और हमारे खाद्य बाजार दंगों की स्थिति का सामना करने के लिए तैयार क्यों नहीं रहते? देश में कहीं भी दंगे हों, सबसे ज्यादा संकट महिलाओं को झेलना पड़ता है। किसी भी दंगे के बाद सामने आने वाली खबरों को देख लें, हम महिलाओं की दर्दनाक कहानियों से ही वाबस्ता होंगे। लेकिन इसके बावजूद दंगों से प्रभावित होने वाली महिलाओं की संख्या में साल-दर-साल कोई कमी नहीं आई है। दंगों में अपने किसी परिजन को खो देना किसी परिवार के लिए बेहद यंत्रणादायी होता है। लेकिन दंगों के कारण निर्मित होने वाला आजीविका का संकट भी कमतर नहीं है। इसके बावजूद हमारे पास दंगों में हुई क्षति का आकलन करने और उसकी भरपाई करने की कोई सुव्यवस्थित प्रणाली नहीं है। यह हमेशा विवाद का विषय बना रहता है कि दंगों में किसे, कितना और कैसे नुकसान हुआ।

इसी साल 30-31 अगस्त को बैंकॉक में 24 देशों का एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था, जिसमें एशिया-प्रशांत क्षेत्र में जलवायु परिवर्तन के कारण होने वाली क्षतियों के बारे में चर्चा की गई थी। इसमें कहा गया था कि किसी



आपदा से होने वाली क्षति का सटीक आकलन ही उसके बाद किए जाने वाले राहत कार्यों की बुनियाद होता है। जो बात जलवायु परिवर्तन संबंधी क्षतियों के बारे में सही है, वही दंगों से होने वाले नुकसानों पर भी लागू होती है। असावधानीपूर्वक किया गया त्रुटिपूर्ण आकलन अन्याय का भी कारण बन सकता है।

दंगों से शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएं भी खासी प्रभावित होती हैं। कई बार तो दंगों से होने वाली क्षति इतनी अधिक होती है कि शिक्षा-स्वास्थ्य व्यवस्थाओं को दंगों से पहले की स्थिति तक फिर से पहुँचने में सालों लग जाते हैं। दंगों का सबसे बुरा असर महिलाओं व बच्चों के स्वास्थ्य पर पड़ता है। सुरक्षा कारणों के चलते बुजुर्ग भी स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित हो जाते हैं। दिहाड़ी मजदूरी करने वालों और उनके परिवारों के लिए स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंचना बेहद दुष्कर हो जाता है। सवाल है कि जब देश में इतनी संख्या में दंगे होते हैं तो उनके मुकाबले के लिए उठाए जाने वाले सामाजिक सुरक्षा संबंधी कदमों की स्थिति इतनी दयनीय क्यों है?

शहरों में होने वाले दंगे अक्सर अप्रत्याशित तेजी से फैलते हैं। वे थोड़ी ही समय में किसी भी रहवासी क्षेत्र को जीवन-यापन के लिए अनुपयुक्त बना सकते हैं, फिर चाहे यह दिल्ली में हो या अहमदाबाद में, बंगलुरु में हो या हैदराबाद में। शहरी दंगे एक बहुत चुनौतीपूर्ण समस्या हैं और यही कारण है कि देश के हर शहर को दंगों की स्थिति से निपटने और दंगों की संख्या को नियंत्रित करने के लिए पुख्ता योजनाएं बनाना चाहिए। अभी यह स्थिति है कि दंगों को केवल कानून-व्यवस्था से जुड़ी समस्या ही माना जाता है और नगरीय नियोजन प्रणाली इस संबंध में कुछ नहीं करती। जनजातीय-ग्रामीण क्षेत्रों में दंगों के बाद पारिस्थितिकी संबंधी समस्याएं भी सामने आती हैं। असम के चाय बागानों में काम करने वाले और ओडिशा-कर्नाटक में खनन में जुटे आदिवासी इस तरह की समस्याओं से दो-चार हो चुके हैं।

दंगे यदि आपदा संबंधी खतरों में तब्दील हो जाएं तो वे दोहरी विपत्ति बन जाते हैं। असम में जिला आपदा प्रबंधन योजना की समीक्षा में पाया गया था कि एक खतरा

दूसरे को बुलावा देता है। यह जोखिमपूर्ण स्थितियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। लेकिन इसके बावजूद देश की किसी भी जिला आपदा प्रबंधन योजना में दंगों को संभावित आपदा की श्रेणी में नहीं रखा गया है। इनमें वे आपदा प्रबंधन योजनाएं भी शामिल हैं, जो दंगों के लिहाज से बेहद संवेदनशील क्षेत्रों में संचालित हो रही हैं। यदि दंगों की स्थिति को नियंत्रित करने के लिए जवाबदेह व जिम्मेदार शासन-प्रणाली काम कर रही हो तो हालात को तेजी से सुधारा जा सकता है। ब्रिटेन में मानवीय कार्यों के लिए उत्तरदायित्व और प्रदर्शन संबंधी एक नेटवर्क के जारी शोध-कार्य में बताया गया है कि मानवीय त्रासदियों से प्रभावित सरकारों के सीखने और सुधार करने की क्षमताओं में निरंतरता और एकरूपता नहीं है। अलबत्ता भारत में दंगों के बाद उनकी जांच के लिए अनेकानेक आयोगों का गठन किया गया है, लेकिन इसके बावजूद यह पता करने के न के बराबर प्रयास किए गए हैं कि इन रिपोर्टों और जांच प्रक्रियाओं से संबंधित राज्य सरकारों ने क्या सबक लिए हैं और सुधार करने की क्या कोशिश की है। एक अंतर्राज्यीय विकास परिषद दंगों के सबकों की समीक्षा कर सकती है और सुधार लाने की कोशिश कर सकती है। सिविल सोसायटी से संबंधित समूहों, व्यवसायियों और अधिकारियों द्वारा किए जाने वाले सशक्त और साझा प्रयास दंगों के बाद राहत प्रक्रिया में तेजी और सुधार ला सकते हैं। डॉ. डोरोथी हिलहर्स्ट ने अपनी नई किताब 'डिजास्टर, कॉन्फ्लिक्ट एंड सोसायटी इन क्राइसिस : एवरीडे पॉलिटिक्स ऑफ क्राइसिस रिसपॉन्स' में बहुत साफ शब्दों में लिखा है कि निश्चित ही संकट की स्थितियां सामाजिक विघटन का कारण होती हैं, लेकिन वे समाज का पुनर्व्यवस्थापन कर हमें नई संस्थाओं को रचने का एक मौका भी देती हैं। संकट समाज को बेहतर बनाने का एक अवसर भी हैं। उपरोक्त बातें कम से कम एनआईसी सदस्यों के लिए तो नई नहीं ही होंगी। इसीलिए अब समय आ गया है कि एनआईसी 'इन दंगों के लिए कौन जिम्मेदार है और कैसे' जैसी बातों से आगे बढ़े और दंगों पर अंकुश लगाने और उनके दुष्प्रभावों को रोकने के पुख्ता व रचनात्मक उपाय सोचे।

(साभार : नवदुनिया)





पुलिस सुधार कब होगा?

● रामबल्लभ शर्मा

अब से सात साल पहले सुप्रीम कोर्ट ने पुलिस व्यवस्था में सुधार का ऐतिहासिक फैसला सुनाया था। मकसद था, पुलिस को जनतंत्र की अपेक्षाओं पर खरा उतारने का, लेकिन केन्द्र व राज्य सरकारों के ढुलमुल रवैये की वजह से व्यवस्था आज भी उसी गति से चल रही जितनी कि पहले।

पुलिस द्वारा कल पूरे देश में पुलिस सुधार दिवस (पुलिस रिफार्म-डे) मनाया जाएगा। इसके पीछे मकसद भारतीय पुलिस सेवा के पूर्व अधिकारी प्रकाश सिंह द्वारा सुप्रीम कोर्ट में दायर जनहित याचिका की सुनवाई के बाद 22 सितम्बर 2006 को दिए गए निर्णय को केन्द्र व विभिन्न राज्यों में लागू करवाना है। अभी तक 15 राज्यों ने सुप्रीम कोर्ट के निर्देशों की पालना करने के बावत शपथ पत्र पेश किया है। इनके अनुसार केन्द्र व राज्यों की सरकार द्वारा पिछले सात वर्षों में की गई पालना करने के बावत शपथ पत्र पेश किया है। इनके अनुसार केन्द्र व राज्यों की सरकार द्वारा पिछले सात वर्षों में की गई पालना आधी-अधूरी अनमने मन से की गई लगती है। महाराष्ट्र सरकार ने तो अपने शपथ-पत्र में सुप्रीम कोर्ट के निर्देशों के संविधान के प्रावधानों के खिलाफ होना बतलाया है।

सुप्रीम कोर्ट ने अपने इस निर्णय में जो सात दिशा-निर्देश दिए हैं, वे मुख्य रूप से पुलिस के रोजमर्रा के कामकाज में नेताओं, नौकरशाहों व सरकार के हस्तक्षेप को रोकने, राज्य सुरक्षा आयोग के गठन, पुलिसकर्मियों के चयन, तैनाती, पदोन्नति, ट्रांसफर आदि कार्मिक मामलों में बाहरी दखल रोकने के लिए पुलिस स्टेब्लिशमेंट बोर्ड के गठन, पुलिसकर्मियों के विरुद्ध प्राप्त गंभीर शिकायतों की जांच के लिए पुलिस शिकायत प्राधिकरण के गठन, राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी कार्य देखने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा आयोग के गठन, जांच कार्य व कानून व्यवस्था बनाए रखने के लिए

अलग-अलग पुलिस व्यवस्था करने व डीजीपी, आईजी तथा अन्य अधिकारियों का कार्यकाल कम से कम दो साल निश्चित करने के बारे में है। यह ही है कि इन निर्देशों की पालना से पुलिस पर नियंत्रण भी रहेगा और उसके कामकाज में बाहरी दखल भी कम होगा।

अंग्रेजों द्वारा हमारे देश में अपनी हुकूमत चलाने के लिए बनाए गए पुलिस एक्ट-1861 के लागू होने की 150वीं वर्षगांठ भी विभिन्न राज्यों की पुलिस ने इसी वर्ष मनाई है। देखा जाए तो अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त होने के बाद भी आज, हम हमारी पुलिस को मन से हमारी नहीं कह सकते हैं। दरअसल, आश्चर्य इस बात पर होता है कि हमारे देश में पिछले 66 वर्षों में जनता का तंत्र होने के बावजूद भी हम पुलिस को जनतंत्र की अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं ढाल पाए हैं, जिसके कारण इसके अतीत में छिपे हैं। अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा व स्थायित्व के लिए आमजन से पुलिस की दूरी बनाए रखी, जिसके कारण दोनों के बीच आपस में संवाद, समन्वयन व सामंजस्य नहीं बन पाया। स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में भी पुलिस नेतृत्व अंग्रेजों के जमाने की तरह नेताओं की अंधी जी-हुजूरी में कठपुतली की तरह नाचता रहा। देश की सर्वोच्च जांच एजेंसी सीबीआई के कार्यों में राजनीतिक दखलदाजी को लेकर देश की सर्वोच्च अदालत ने हाल ही में सटीक टिप्पणी की है कि इसकी हालत पिंजरे में बंद 'पालतू तोते' जैसी है, जिसके कई मालिक हैं और वह उन्हीं की भाषा



बोलती है। यह टिप्पणी राज्यों की पुलिस पर भी सही लागू होती है। इस स्थिति में अब समय का तकाजा है कि आमजन में पुलिस की खोई हुई विश्वसनीयता हासिल करने के लिए पुलिस अधिकारियों को चाहिए की वे राजनीतिक दखल व संसाधनों की कमी का ढिंढोरा पीटना छोड़कर पुलिस विभाग की रीति व नीतियों में बदलाव करें। आज मैं उन बदलावों के बारे में चर्चा करना चाहता हूँ, जो पुलिस नेतृत्व, यदि चाहे तो पुलिस सुधारों की दिशा में अपने स्तर पर पहल कर पुलिस में ला सकता है। मेरी राय में इसके लिए पुलिस नेतृत्व को अपने स्तर पर चार बातों की ओर विशेष ध्यान देना होगा।

पहली बात, सबसे ज्यादा जरूरी यह है कि पुलिस अंग्रेजों के जमाने से ओढ़ा हुआ रौब-दाब का अपना चोला छोड़कर आमजन के प्रति संवेदनशील बने और उनके साथ शालीनता से बर्ताव करे। क्या यह पुलिस नेतृत्व के लिए शर्म की बात नहीं है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के 66 वर्ष बाद भी, आम आदमी की बात तो छोड़ें, एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी बिना किसी डर के अपनी समस्या लेकर थाने पर नहीं जा सकता। ऐसा इसलिए है कि आमजन के लिए पुलिस वालों की अपनी एक अलग भाषा है, जो युगों से चली आ रही है, उसमें बदलाव लाने के लिए नीचे से ऊपर तक पुलिस मानसिकता में आमूल चूल परिवर्तन लाना होगा। 'आमजन में विश्वास व अपराधियों में डर' का पुलिस ध्येय तभी सही मायने में पूरा होगा।

दूसरी बात, यदि परिवादी द्वारा की गई शिकायत पर या दी गई रिपोर्ट पर पुलिस जाँच का कोई मामला बनता हो, तो थानाधिकारी उसे तुरंत दर्ज कर उस पर नियमानुसार आगे कार्रवाई करें। इसके लिए हर स्तर पर पुलिस वालों की जवाबदेही निर्धारित करनी होगी और उनके काम में पारदर्शिता लानी होगी। पुलिस अधिकारियों को यह नहीं भूलना चाहिए कि आमजन के प्रति अपनी जिम्मेदारी निभाने में कोताही बरतने के कारण ही पुलिस जनता का विश्वास नहीं जीत पाई है। इसके लिए पुलिस

को जनता में यह विश्वास जगाना होगा कि वह संकट की घड़ी में उनके साथ खड़ी है।

तीसरी बात, पुलिस बिना सिफारिश व रिश्त के कोई काम नहीं करती है और आमजन के पास न तो सिफारिश होती है और न ही देने को रिश्त। जनता की यह आम धारणा तभी बदल सकती है, जब पुलिस वाले भर्ती होने के समय संविधान व कानून के अनुसार काम करने की ली गई शपथ का पालना करते हुए सत्ताधीशों के केवल जायज आदेश मानें और नाजायज काम के लिए विनम्र रूप से मना करने वाले कर्तव्य परायण पुलिसकर्मियों को संरक्षण प्रदान करें।

अन्त में चौथी बात, आमजन के मन में यह बैठा हुआ कि पुलिस नीचे से लेकर ऊपर तक भ्रष्ट है, जो काफी हद सही भी है। जनता की इस आम धारणा को तभी तोड़ा जा सकता है, जब पुलिस बिना किसी लाग लपेट के अपना काम करे और जगह-जगह कुकुरमुत्ते की तरह फैले विभिन्न माफिया व अवैध धंधा करने वालों को पनाह देकर उनसे वसूली न करे। ऐसा करना आसान नहीं है, लेकिन असंभव भी नहीं है। सवाल है कि पुलिस का नेतृत्व करने वाले अधिकारी भारतीय पुलिस सेवा एवं राज्य पुलिस सेवाओं में कठिन प्रतिस्पर्धा के बाद चयनित और 2 वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त होते हैं। फिर वे अपने नीचे के पुलिस स्टॉफ को आमजन के साथ अच्छा बर्ताव व व्यवहार करने के लिए बाध्य क्यों नहीं कर सकते? इसके लिए किसी प्रकार के धन अथवा संसाधन की जरूरत नहीं है। आवश्यकता केवल अधिकारियों की इच्छाशक्ति एवं जनता से सीधे जुड़े पुलिसवालों के उचित प्रशिक्षण की है। अधिकारी यदि समय रहते अपने स्तर पर होने वाले पुलिस सुधारों को लागू नहीं करेंगे, तो सुप्रीम कोर्ट के दखल से पुलिस में होने वाले सुधारों से भी आमजन को कोई विशेष राहत नहीं मिल सकेगी।

(साभार : पत्रिका)





शिक्षा ही संवार सकती है आदिवासियों का जीवन

● मांगीलाल सोलंकी

प्रदेश के विभिन्न अंचलों में पहाड़ी, घाटियों, जंगलों तथा छोटी-बड़ी नदियों के किनारों पर भील, गोंड, कोरगू आदि आदिम समुदाय सदियों से बसे हुए हैं। पारंपारिक तौर पर कृषि से जुड़े ये समुदाय वनोपज बेचकर तथा जहां-तहां मेहनत-मजदूरी करके अपनी आजीविका चलाते हैं। कठोर मेहनत-मशक्कत के बाद भी ये कभी निर्धनता से मुक्त नहीं हो पाए। इसके अलावा ताड़ी-शराब का नशा, निरक्षरता, अंधविश्वास, कुरीतियां आदि भी इनके पिछड़ेपन का कारण हैं। आज भी इनका वैयक्तिक व समूह-जीवन जादू-टोने, मंत्र-तंत्र के इर्द-गिर्द ही घूमता है। अल्प व असामयिक वर्षा इन्हें कोदरी, मक्का, ज्वार जैसा मोटा अनाज ही दे पाती है। शिक्षा ही इनकी पारंपरिक जीवन-शैली में आमूलचूल बदलाव ला सकती है।

पुरातन काल से ये घास-फूस की झोपड़ियों में रहते आए हैं। जहां खेत, वहीं आवास। इस कारण से इन झोपड़ियों की एक-एक, दो-दो किलोमीटर तक दूरी हो गई है। खेत भी ऊबड़-खाबड़ व ऊँचे-नीचे। सामान्यजन को इन तक आने-जाने में दिक्कत महसूस होती है। समूह-वस्तियां नगण्य हैं। इनमें सुसंस्कृत परिवेश का भी अभाव है। एक दूसरी दिक्कत है ताड़ी-शराब के नशे की। प्रायः दिनभर ही ये लोग इनके नशे में धुत रहते हैं। ऐसे में न गांवों में सामाजिक परिवेश मिलता है, न ही सहायता-सहयोग। इसके अतिरिक्त इन गांवों में चोरी, लूट, डकैती, हत्या, अपहरण जैसी संगीन अपराध आए दिन घटित होते रहते हैं। आदिवासी परिवारों में बच्चे भी आर्थिक इकाई की तरह काम करते हैं। पशु चराकर व खेतों में करके वे परिवार की मदद करते हैं। कुछ बच्चे होटलों व दुकानों पर काम कर या मेहनत-मजदूरी कर अर्थार्जन करते हैं। ऐसे में इन्हें कैसे पढ़ाया जाए, यह यक्ष-प्रश्न है। इस दिशा में एक और बड़ी कठिनाई है आदिवासियों द्वारा मजदूरी की खातिर वीवी-बच्चों समेत बाहरी प्रदेशों में पलायन करना। इससे गांव के गांव वीरान रह जाते हैं और घरों में सिर्फ बुजुर्ग ही नजर आते हैं। यह प्रवृत्ति विगत तीस वर्षों से लगातार बढ़ती जा रही है। इससे मुक्ति कैसे पाई जाए? इसके

समाधान हेतु 'मनरेगा' जैसी योजना शुरू की गई थी, ताकि आदिवासियों को स्थानीय स्तर पर ही मजदूरी मिल जाए। पर इसका भी पूरा लाभ नहीं मिल पा रहा है, क्योंकि अपेक्षित मात्रा में निर्माण-कार्य खुलते नहीं, मजदूरी कम है और समय पर भी नहीं दी जाती है। भ्रष्टाचार भी इसका बड़ा कारण है। बाह्य प्रदेशों में मजदूरी की दर काफी अधिक है। साक्षरता अभियान के अंतर्गत बुजुर्गों तथा पशु-चराने या अन्य काम करने वाले बालक-बालिकाओं बच्चों को साक्षर करने हेतु प्रौढ़ शालाएं व वैकल्पिक शालाएं शुरू की गईं। परंतु इनसे भी प्रत्याशित परिणाम नहीं मिलते। वैसे भी पलायन करने वाले बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था एक जटिल सवाल बना हुआ है।

इस दिशा में श्रेष्ठ परिणाम पाने हेतु आदिवासी गांवों में शिक्षा के लिए अधिकाधिक स्वयंसेवी संस्थाओं को सक्रिय किया जाना चाहिए। समूचा स्टाफ गांव में रहकर उन परिवारों के दुःख-सुख में सहभागी हो। इससे आत्मीयता बढ़ेगी और शिक्षा के लिए अनुकूल माहौल बनेगा। इसका एक और विकल्प है। हर पाँच किमी के दायरों में एक शिक्षा केन्द्र बनाया जाए। इसमें बच्चों, स्टाफ आदि के लिए आवास-सुविधा भी हो। सभी एक साथ रहें। इससे उक्त बालक-बालिकाओं को शिक्षा प्राप्ति के लिए लंबी दूरी भी तय नहीं करना पड़ेगी। इस परिधि में आने वाले सभी गांवों के बच्चे एक साथ रहेंगे-पढ़ेंगे। इनके अभिभावक भी शिक्षण-व्यय से एकदम मुक्त होंगे। साथ रहने से शिक्षण के संग रहन-सहन, व्यवहार आचरण जैसे तमाम मोर्चों पर परस्पर आत्मीयता तथा अनुकरण की प्रवृत्ति भी बढ़ेगी। हां, यह खर्चीली अवश्य है, पर प्रदेश के आदिवासियों का जीवन-स्तर संवारने तथा इन्हें राष्ट्र की मुख्यधारा से जोड़ने हेतु इन विकल्पों पर सोचना तो पड़ेगा। तभी ये समुदाय सदियों पुराना कुप्रथाओं से मुक्त हो सकेंगे। इसके बगैर राष्ट्र की हर समृद्धि एवं उन्नति निरर्थक ही सिद्ध होगी।

(साभार : नवदुनिया)

□ □ □



धरती पर इतना कचरा क्यों

• एंड्रयु लाम

जब अर्थव्यवस्था का अस्तित्व उपभोग पर आश्रित हो जाता है तो हम कभी नहीं पूछते कि इसकी अधिकतम सीमा क्या है? हमें इन सबकी आवश्यकता क्यों है? और क्या यह हमें और आनंदित कर रही है? जबकि हमारे व्यक्तिगत उपभोग के पर्यावरणीय, सामाजिक एवं आध्यात्मिक परिणाम सामने आते हैं। अब जीवनशैली संबंधी धारणाओं के पुनः परीक्षण का समय आ गया है।

अ | मेरिका में 40 प्रतिशत भोजन की कीमत करीब 165 अरब डॉलर बैठती है। सामान्य अर्थ में कहें तो 4 लोगों का अमेरिकी परिवार प्रतिवर्ष करीब 1,18,000 रुपए का खाना कचरे में फेंकता है। इस प्रवृत्ति ने पूरी मानव सभ्यता के लिये अस्तित्व का संकट खड़ा कर दिया है। बचपन में मैं सुपर बाजार के कूड़ेदान से उठाया गया खाना खाता था। 70 के दशक के मध्य में हम पहली बार एक शरणार्थी की तरह वियतनाम से अमेरिका में प्रविष्ट हुए थे और मेरे सबसे बड़े भाई को घर के पास एक सुपर बाजार में काम मिल गया था। उसे दिन गए कई कामों में से एक जो उसे विशेष रूप से अरुचिकर लगता था। वह था रात में ऐसे भोज्य पदार्थों को कूड़ेदान में फेंकना, जिनकी खाने की तिथि निकल गई हो और इसके बाद उन पर क्लोरोक्स नामक एक रसायन का छिड़काव करना, जिससे कि कचरा बीनने वाले एवं गरीब निराश हों।

बिना भूले वह अपने साथियों को रात के अंधेरे में बुलाता था और उस बचे हुए खान - जिनमें बिस्कुटों के सीलबंद डिब्बे, खाने की जमी हुई ट्रे, टूना मछली के डिब्बे, आटे की थैलियां और खाने की नाना प्रकार की वस्तुएं शामिल थीं, को हमारे द्वारा निकाल दिए जाने के बाद वह उन पर रसायन डाल देता था। एक दिन सुपर बाजार के प्रबंधक ने उसे रंगे हाथों पकड़ लिया और वहां पर एक ताला बंद कचरा पेटी लगा दी। इसके बाद मेरे भाई को नौकरी से हाथ धोना पड़ा।

जहां तक कचरे की बात है तब से अब तक स्थिति में अधिक परिवर्तन नहीं आया है। बल्कि स्थितियां और

बदतर हुई हैं। यह सच है कि अमेरिकी वस्तुओं का पुनःउत्पादन (रिसायकलिंग) करते हैं। हम हरियाली और ध्रुवीय भालुओं की बचाने की बात भी करते हैं। लेकिन अमेरिकी पहले की तरह बर्बादी करने वाले बने हुए हैं। प्राकृति संसाधन रक्षा परिषद (एनआरडीसी) द्वारा किए गए अध्ययन के अनुसार औसत अमेरिकी नागरिक दक्षिण पूर्व एशिया के नागरिकों के मुकाबले 10 गुना ज्यादा भोजन की बर्बादी करते हैं। यह 1970 के दशक में अमेरिकी नागरिकों द्वारा की जा रही बर्बादी से 50 प्रतिशत अधिक है। शोध में पाया गया कि हम भोजन का 40 प्रतिशत फेंक देते हैं। इसकी प्रतिवर्ष की अनुमानित कीमत करीब 165 अरब डॉलर (एक डॉलर-53 रुपए के मान से) होती है। इस लंबी मंदा के दौर में भी गणना करें तो औसतन चार लोगों का परिवार प्रतिवर्ष 2200 डॉलर (1,18,000 रु.) मूल्य के बराबर का भोजन फेंक देता है। इसके अन्य विपरीत प्रभाव भी हैं। जैसा कि अमेरिका में गत तीस वर्षों में कचरे की मात्रा दुगुनी हुई है।

अनुमानतः अमेरिका के 80 प्रतिशत उत्पादों को एक बार प्रयोग करने के बाद फेंक दिया जाता है, जबकि सभी प्रकार के प्लास्टिक के 95 प्रतिशत, कांच के बर्तनों के 75 प्रतिशत एवं एल्युमिनियम पेय पदार्थ डिब्बों के 50 प्रतिशत का पुनःचक्रण (रियासकलिंग) होता ही नहीं है। इसके बजाय या तो इन्हें जला दिया जाता है या गाड़ दिया जाता है। अमेरिका में विश्व की कुल जनसंख्या का महज 5 प्रतिशत ही निवास करता है जबकि वह विश्व ऊर्जा संसाधनों के 30 प्रतिशत से ज्यादा का उपभोग करता है



और विश्व में पैदा होने वाले जहरीले कचरे में से 70 प्रतिशत अमेरिका में ही उत्सर्जित होता है। ग्लोबल अलायंस फॉर इनसिनेरेटर ऑल्टरनेटिव (वैकल्पिक भस्मक का वैश्विक संगठन) का कहना है कि यदि हमारे ग्रह पर रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति अमेरिका की दर से उपभोग करने लगे तो हमें अपने उपभोग को पूरा करने के लिए 3 से 5 अतिरिक्त ग्रहों की आवश्यकता पड़ेगी।

अधिक समय नहीं बीता है जबकि मितव्ययता एक नैतिक कार्य माना जाता था। लेकिन अब हमारी दो तिहाई अर्थव्यवस्था उपभोग पर आधारित है। हम ऐसे युग में रह रहे हैं, जिसमें ग्लेशियर पिघल रहे हैं एवं बढ़ता समुद्री जलस्तर, ध्रुवीय भालू डूब रहे हैं, मेढ़क महामारी की रफ्तार से खत्म हो रहे हैं, कोयल गायब हो रहे हैं और वनों के साथ-साथ हमारी जैव विविधता भी लुप्त हो रही है। हम बढ़ते वैश्विक तापमान के युग में रह रहे हैं। जहां तूफान हमारे शहरों और नगरों को तहस-नहस कर रहे हैं और हमारी जीवन रहने लायक ही नहीं बच पा रहा है। इसने हमारे ग्रह पर एक अभूतपूर्व संकट खड़ा कर दिया है।

प्रसिद्ध लेखक डेविड सुजुकी का कहना है कि जब अर्थव्यवस्था का अस्तित्व उपभोग पर आश्रित हो जाता है तो हम कभी नहीं पूछते कि इसकी अधिकतम सीमा क्या है? हमें इन सबकी आवश्यकता क्यों है? और क्या यह हमें और आनंदित कर रही है? हमारे व्यक्तिगत उपभोग के पर्यावरणीय, सामाजिक एवं आध्यात्मिक परिणाम सामने आते हैं। अब हमारी जीवनशैली संबंधी धारणाओं के पुनःपरीक्षण का समय आ गया है। तूफान केटरीना के बाद अमेरिकियों ने अधिक संख्या में इन सवालियों को पूछना आरंभ कर दिया है। लेकिन उपभोक्तावाद एक ताकतवर शक्ति है और इसने अत्याधिक कुश्रुता से इसे विज्ञापन के माध्यम से अमेरिकी सपने की संज्ञा दे दी है, जिससे बहुत कम लोग उबर पाते हैं। उपभोक्ता द्वारा ही हमारी अर्थव्यवस्था के 70 प्रतिशत से अधिक व्यय किया जाता है। हम जानते हैं कि परिवर्तन की आवश्यकता है। परन्तु मोटापे के शिकार अनेक व्यक्तियों की तरह जो कि डाइटिंग एवं कसरत तो करना चाहते हैं ठीक उसी तरह एक देश की तरह हम भी इस आदत को छोड़ नहीं पा रहे हैं।

कचरा हमारे युग की पैतृक सम्पत्ति बन गया है। यह सबसे बड़ा मानव निर्मित ढांचा है। यह चीन की दीवार की

तरह है। वर्तमान में सबसे बड़ा मानव निर्मित ढांचा, पूर्वी महान कचरा क्षेत्र (ईस्टर्न ग्रेट गारबेज पेच) है। इसमें केलिफोर्निया एवं हवाई के मध्य समुद्र में प्लास्टिक का विशाल वलयाकार बना हुआ है। कुछ वैज्ञानिकों का मानना है कि इसका आकार टेक्सास प्रांत के बराबर है। शरणार्थी से खरीदी की सनक तक- मेरा परिवार एवं रिश्तेदारों ने स्वयं शरणार्थी के रूप में शुरुआत की थी और आज ऐसा मध्यमवर्गीय अमेरिकी बन गये हैं, और कई बार प्रतीत होता है कि उनका ध्येय भी सनक तक खरीददारी का हो गया है। नवीनतम तकनीक, फैशन की नवीनतम धारा, नई से नई कारें, सर्वश्रेष्ठ लेपटॉप, नवीनतम आई पेड एवं आई फोन, हमारे पास ये सब कुछ है। और हां, हालांकि मैं मितव्ययी होने का प्रयास करता हूँ लेकिन मैं उसी समीकरण का हिस्सा हूँ। डिनर पार्टी में यदि जितना मैं खा सकता हूँ उससे ज्यादा परोस दिया जाता है तो मैं अच्छा खाना भी फेंक देता हूँ। मेरे पास भी नवीनतम तकनीकें हैं और मैं इन्हीं आंकड़ों का हिस्सा हूँ। वैसे में इस विषय से वाकिफ हूँ कि आज मुख्यधारा के अमेरिकी ने सोचना प्रारंभ कर दिया है कि यदि सभी हमारे तरह का बनना चाहेंगे तो मौसम पर इसके क्या सीधे परिणाम पड़ेगे? चीन से लेकर मुम्बई, केपटाउन से लेकर रियो डी जेनेरियो तक सभी अमेरिकी शैली का बेहतर जीवन चाहते हैं। हमारी सामूहिक इच्छाएं धराशायी होने के कगार पर पहुंचकर पारिस्थितिकी पर और अधिक दबाव डाल रही हैं।

सेनफ्रांसिस्को में अपने घर वापस लौटते हुए मैंने देखा कि दो बूढ़ी महिलाएं मेरे घर के पास स्थित रेस्टोरेंट में पड़े एल्युमिनियम के डब्बों एवं प्लास्टिक की बोतलों को तलाश रही थीं। एकाएक एक कर्मचारी बाहर आया और उसने चिल्लाकर बूढ़ी महिलाओं को ऐसा करने से रोका। मैं गाली देती उन दोनों महिलाओं को आड़ में छुपते देखता रहा और मुझे अपना दीन-हीन अतीत याद हो आया।

मुझे भय है कि जिस तरह से सब कुछ घटित हो रहा है और वैश्विक तापमान में वृद्धि से हमारी सभ्यता खतरे में पड़ गई है, ऐसे में ये दो बूढ़ी कचरा बीनने वाली हमारे अपने पूर्व भविष्य का ही प्रतिनिधित्व कर रही है।

(साभार : पीपुल्स समाचार)





विकास की दौड़ से बाहर विकलांगजन



देश में विकलांग लोगों के हित के लिए कानून तो अनेक बने हुए हैं, पर सच यही है कि ये कानून सार्थक नहीं सिद्ध हो रहे हैं। इसी का परिणाम यह है कि विकलांग लोग विकास की दौड़ से बाहर हैं।



शारीरिक रूप से अक्षम अथवा विकलांगों के प्रति समाज व सरकार, दोनों का दायित्व है कि उन्हें सामान्य जिंदगी जीने के लिए प्रेरित किया जाए, पर दोनों स्तर पर ही कोताही नजर आती है। उनके प्रति सामाजिक नजरिया तो तंग होता ही है, लेकिन जब कोई लोकतांत्रिक सरकार उनकी उपेक्षा करती है, तो इसे समावेशी विकास के दायरे से बाहर माना जाता है। सरकारी उपेक्षा का ही नतीजा है कि विकलांगों के कल्याणार्थ अब तक एक अधिकार संपन्न कानून नहीं बन सका है।

कुछ समय पहले सरकारी भवनों में विकलांगों की पहुंच के मुद्दे पर चर्चा हुई थी कि इन इमारतों की संरचना विकलांगों के लिए काफी असुविधाजनक है, पर कुछ ही दिनों के बाद यह मुद्दा कहीं गुम हो गया। समाज का महत्वपूर्ण अंग होने के बावजूद प्रायः वे इस उपेक्षापूर्ण रवैए के कारण ही अपनी मानसिक और उत्पादकता का लाभ समाज को नहीं दे पाते हैं, जबकि शारीरिक अक्षमता के बावजूद ऐसे लोग समाज को बहुत कुछ दे सकते हैं। दुनिया के सबसे बड़े भौतिक विज्ञानी स्टीफन हॉकिंग शारीरिक रूप से अक्षम होने के बावजूद अपनी योग्यता का लोहा मनवा रहे हैं। इतिहास में और आज भी ऐसे प्रतिभावान विकलांगों की कमी नहीं है, जो प्रेरित करते हैं कि शारीरिक अक्षमता कोई बाधा नहीं।

वर्ष- 2011 की जनगणना के अनुसार देश में करीब 2.20 करोड़ विकलांग हैं। यानि, कुल आबादी के करीब 2.13 फीसदी। इनके विकास और सशक्तिकरण के लिए

भारतीय संविधान ने राज्यों को जिम्मेदार बनाया है। उनकी पूर्ण भागीदारी एवं समानता पर एशिया-प्रशांत क्षेत्र संधि उद्घोषणा पर भारत ने हस्ताक्षर किए हैं। इसके साथ ही विकलांगों के अधिकारों की रक्षा और संवर्धन पर संयुक्त राष्ट्र संघ संधि पर भी भारत ने अक्टूबर-2008 में हस्ताक्षर किए थे।

विकलांगों के कल्याणार्थ और रचनात्मकता को प्रोत्साहित करने के लिए 1995 में विकलांग कानून पारित हुआ। उन्हें आर्थिक रूप से सशक्त बनाने के लिए 1977 के शासनादेश के तहत सरकारी नौकरियों में ग्रुप 'सी' व 'डी' पदों में तीन फीसदी आरक्षण दिया गया। 1986 में इसमें ग्रुप 'ए' व 'बी' भी शामिल कर लिए गए। समस्याओं के निवारण हेतु देश में विकलांगों के लिए पाँच समन्वित केन्द्र श्रीनगर, लखनऊ, भोपाल, सुंदर नगर और गुवाहाटी में बने हैं। इनमें प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाए जाते व विकलांगों को पुनर्वास सेवा दी जाती है।

विकलांगों को समान अवसर, उनके अधिकारों की रक्षा और पूर्ण सहभागिता अधिनियम भी फरवरी-1996 से लागू हुआ। इसके तहत केन्द्र व राज्य स्तर पर विकलांगों के पुनर्वास को बढ़ावा देने वाले कार्यक्रमों पर जोर दिया गया। इसकी धारा-57 के तहत एक संवैधानिक मुख्य आयुक्त का पद सृजित किया गया, जो कि विकलांगों हेतु राज्यों के आयुक्तों के साथ समन्वयन, केन्द्रीय सहायता की निगरानी और विकलांगों की शिकायतों का निवारण करेंगे।

सरकार ने सामान्य रोजगार केन्द्रों में विशेष प्रकोष्ठों



के माध्यम से विकलांगों के रोजगार हेतु विशेष रोजगार केन्द्रों का गठन भी किया है। जरूरतमंद विकलांगों के लिए टिकाऊ, अत्याधुनिक और वैज्ञानिक मानक उपकरण उपलब्ध कराने के उद्देश्य से कृत्रिम अंग योजना भी संचालित है। यानी, आजादी के बाद से ही सरकार विकलांगों के कल्याण के लिए प्रयासरत है, तथापि इसका अपेक्षित परिणाम नहीं दिखता।

इस क्षेत्र में सबसे बड़ी बाधा है, समाज में विकलांगों में एक बेहतर समन्वयन का अभाव। आज समाज में तीव्र वैज्ञानिक और आर्थिक प्रगति हो रही है। रोजगार के नए-नए अवसर व साधन निर्मित हो रहे हैं। ऐसे में जमी-जमाई

धारणा से ऊपर उठकर विकलांगों को समझना होगा। बदलते संसाधनों के साथ वे समाज में अपनी आर्थिक और सामाजिक भूमिका कुशलता से निभा सकते हैं। सरकार और आमजन के प्रयासों से कई जगहों पर उन्हें उचित सम्मान और स्थान मिला भी है। प्रत्येक समाज में विकलांगों को समाज का उत्पादक अंग समझा जाना चाहिए। जब किसी भी समूह को समाज की स्वीकृति और सहभागिता मिलती है, तब उसकी क्रियाशीलता ही नहीं, बल्कि उत्पादकता भी बढ़ जाती है। विकलांगों के मामले में भी यही प्रमाणित सत्य है। मगर, हम उनके साथ न्याय नहीं कर पा रहे हैं।

(साभार : राज एक्सप्रेस)



“Notice that the stiffest tree is most easily cracked, while the bamboo or willow survives by bending with the wind.”

– Bruce Lee



“A goal is not always meant to be reached, it often serves simply as something to aim at.”

– Bruce Lee



पारिवारिक सम्मान और अपनों का प्यार चाहते हैं वृद्धजन

वरिष्ठ नागरिक सप्ताह : वृद्धों और वृद्ध अभिभावकों को काफी सुविधाएं सुनिश्चित करता है कानून



● जी.के. छब्बर

एक जमाना था एक पिता चार से पाँच बच्चों का भरण पोषण करता था। आज एक बेटा भी माँ-बाप को नहीं रख पा रहा है। इतना ही नहीं भरण पोषण करने में भी असमर्थता दिखा रहा है, जबकि वह समर्थ है, जोकि चिंता का विषय है। वृद्धाश्रम पश्चिम कि संस्कृति है परन्तु दुर्भाग्य से इस प्रथा को भारत भी अपना रहा है जो कि भारतीय संस्कृति की परम्परा के विपरीत है।



भा | रतीय संस्कृति में माता पिता को जो सम्मान एवं प्यार पूर्व में मिलता रहा है उसमें निरंतर कमी आती जा रही है परिवार टूट रहे है बिखर रहे है। इतना ही नहीं परिवार प्रथा ही समाप्त हो रही है। आज अनेक उदाहरण है कि माता पिता को कोई भी पुत्र साथ नहीं रख पा रहा है। एक जमाना था एक पिता चार से पाँच बच्चों का भरण पोषण करता था। आज एक बेटा भी माँ-बाप को नहीं रख पा रहा है। इतना ही नहीं भरण पोषण करने में भी असमर्थता दिखा रहा है, जबकि वह समर्थ है, जोकि चिंता का विषय है। वृद्धाश्रम पश्चिम कि संस्कृति है परन्तु दुर्भाग्य से इस प्रथा को भारत भी अपना रहा है जो कि भारतीय संस्कृति की परम्परा के विपरीत है।

भरण पोषण और कल्याण अधिनियम 2007 : यह अधिनियम वृद्ध माता पिता अथवा वरिष्ठ नागरिकों की वृद्धावस्था को सम्मानजनक एवं स्वस्थ सुविधापूर्ण जीवन गुजारने के लिए कई प्रावधानों का उल्लेख करता है।

धारा-4 के अन्तर्गत एक वरिष्ठ नागरिक अथवा अभिभावक अपने भरण पोषण के लिए अपनी संतान अथवा नातेदार से निर्वाह भत्ता प्राप्त करने के लिए हकदार है।

धारा -5 के अन्तर्गत भरण पोषण के लिए स्वयं अथवा प्राधिकृत संगठन द्वारा आवेदन सक्षम अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत कर सकेगा। जिलों में सक्षम अधिकारी अनुभागीय अधिकारी बनाए गए है।

धारा -9 के अनुसार यदि संतान या नातेदार वरिष्ठ नागरिक का भरण पोषण करने की उपेक्षा करता है या इन्कार करता है तो सक्षम अधिकारी 10 हजार रुपए मासिक तक भरण पोषण राशि देने का आदेश कर सकता है।

धारा -13 के अनुसार सक्षम अधिकारी द्वारा आदेशित की गई राशि आदेश के 30 दिवस के अन्तर्गत जमा करना होगी।

धारा -18 के अन्तर्गत अधिनियम के अनुसार प्रत्येक जिले में भरण पोषण अधिकारी नियुक्त किए जाएंगे जो कि वरिष्ठ नागरिकों के प्रकरणों में सहयोग देंगे एवं प्रतिनिधित्व भी कर सकेंगे।

धारा -20 के अन्तर्गत वरिष्ठ नागरिकों एवं अभिभावकों के लिए चिकित्सा सुविधा एवं देखरेख का प्रावधान भी बनाया गया इसके अनुसार सरकारी अस्पताल



में प्राथमिकता के आधार पर उपचार किया जाएगा। शीघ्र पलंग दिए जाए वृद्धजन लाईन में न लगे उन्हें अलग से सुविधानुसार उपचार करे।

धारा - 21 के अन्तर्गत वरिष्ठ नागरिक एवं अभिभावकों के लिए कल्याण एवं मनोरंजन कि सुविधा प्रदान की जाए इसके लिए रेडियो दूरदर्शन एवं समाचार पत्रों में प्रचार-प्रसार किया जाए।

धारा - 22 के अन्तर्गत जिले के कलेक्टर पर इस अधिनियम को प्रवर्तन की शक्तियाँ दी है जिलाधीश का दायित्व है कि वृद्धजन एवं अभिभावकों के लिए उनकी संपत्ति की सुरक्षा के लिए बोधशील योजनाएं बनाएं।

धारा - 24 के अन्तर्गत वरिष्ठ नागरिक एवं अभिभावकों कि उपेक्षा करने पर संतान अथवा नातेदार को तीन माह का कारावास एवं पाँच हजार का जुर्माना भी हो सकता है। इस तरह कई अन्य महत्वपूर्ण प्रावधान है जो वृद्ध माता पिता एवं अभिभावकों का संरक्षण करते हैं परन्तु भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के कारण अधिकांश माता पिता अपने बच्चों कि शिकायत नहीं करते, संकोच करते हैं इसी कारण बच्चे एवं बहुएँ शोषण करती हैं।

भारत में बुजुर्गों की स्थिति : हेल्पेज इण्डिया द्वारा गत 2 वर्ष कराए गए सर्वे के अनुसार देश के 20 शहरों में ली गई राय के अनुसार 31 प्रतिशत बुजुर्गों को बहुओं से ज्यादा बेटे प्रताड़ित करते हैं। बुजुर्गों के परेशान होने में भोपाल सबसे आगे है। यहाँ 77 प्रतिशत बुजुर्ग परेशान हैं। जयपुर में 67 प्रतिशत दिल्ली में 30 प्रतिशत गुवाहाटी में 60.55 प्रतिशत कोलकाता में 40.33 प्रतिशत बुजुर्ग परेशान हैं। 80 प्रतिशत लोगों का मानना है कि दोनों पीढ़ियों में सामंजस्य न होना भी परेशानी का कारण है। सर्वे के अनुसार 55 प्रतिशत बुजुर्ग शिकायत ही नहीं करते। 62 प्रतिशत लोगों की राय है कि बच्चों को नैतिक शिक्षा दिया जाना एवं उन्हें संवेदनशील बनाया जाना आवश्यक है संस्कारों के प्रति जिम्मेदारी हो तो समस्या का कुछ हद तक समाधान हो सकता है। एक अन्य अध्ययन के अनुसार

वर्तमान में केवल 22 प्रतिशत बच्चे ही अपने माता पिता को अपने साथ रखे हुए हैं जो कि सुखद स्थिति नहीं है।

विश्व में बुजुर्गों की दशा : यह दुखद पहलू है कि माता पिता के सम्मान का प्रतीक माना जाने वाला हमारा देश वृद्ध एवं वरिष्ठ नागरिकों को साथ रखने एवं सम्मानजनक दशा में रखने पर भारत का स्थान 73वें स्थान पर है। संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से जारी एक रिपोर्ट में यह बात कही गई है। बुजुर्गों कि आम सेहत शिक्षा, रोजगार और उनके आसपास के परिवेश को ध्यान में रखकर तैयार की गई रिपोर्ट के अनुसार स्वीडन विश्व का सबसे अच्छा देश है जहाँ बुजुर्गों का समुचित ध्यान रखा जाता है। इसके बाद नार्वे एवं जर्मनी हैं। सबसे खस्ता हालत अफगानिस्तान की है जहाँ बुजुर्गों का उत्पीड़न है एवं वे असहाय स्थिति में गुजर बसर कर रहे हैं।

मध्यप्रदेश की स्थिति : यह आश्चर्यजनक है कि गत माह ही भारत सरकार ने मध्यप्रदेश सरकार को वरिष्ठ नागरिकों कि देखभाल करने एवं वरिष्ठ नागरिक एवं अभिभावकों के भरण पोषण अधिनियम 2007 को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए देश में पहला राज्य होने पर प्रथम पुरस्कार दिया है जो मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री शिवराजसिंह चौहान के लिए गौरव का विषय हो सकता है। परन्तु इस दिशा में और गंभीर प्रयास करना होंगे। अंत में निष्कर्ष यही है कि कानून ही किसी समस्या का समाधान नहीं है हमें अपनी संस्कृति एवं संस्कारों को पुनर्जीवित करना होगा। बच्चों में अच्छे संस्कार डालेंगे तो भविष्य में माता पिता सुख कि आशा कर सकते हैं। वर्ना बोया पेड़ बबुल का तो आम कहाँ से होय वाली कहावत ही चरितार्थ होगी। अच्छी शिक्षा अच्छे संस्कार स्वस्थ माहौल एवं प्राचीन संस्कृति का सम्मान ही बुजुर्गों के भविष्य को सुरक्षित रख सकता है।

(साभार : स्वदेश)

□ □ □



भारत में 27.5 करोड़ लोग टोबेको का इस्तेमाल करते हैं और
इससे जनित बीमारियों के चलते दस लाख लोग सालाना मरते हैं

टोबेको मुक्त दुनिया का सपना

विश्व स्वास्थ्य संगठन की प्रमुख मार्गरेट चान द्वारा किया खुलासा सुर्खियां बना जब उन्होंने बताया कि महिलाओं एवं युवकों पर फोकस करने की टोबेको उद्योग की रणनीति के खिलाफ यूरोपीय संघ के एक प्रस्तावित कदम को अन्दर से कमजोर करने में एक विश्वविख्यात टोबेको कम्पनी लगी है। कम्पनियों को घाटा होगा इसलिए बिल रोकने के लिए सबसे आसान तरीका यही अपनाया गया है कि बिल पर वोटिंग टाल दो।

सि यासी घटनाओं की आपाधापी में एक अमेरिकी शख्स-जिनका नाम जेफरी विगेण्ड है, उनकी भारत की यात्रा पर अधिक चर्चा नहीं हो सकी। टोबेको उद्योग में रिसर्चर के तौर पर कभी कार्यरत रहे विगेण्ड दुनिया में टोबेको उद्योग के खिलाफ अपने ऐतिहासिक संघर्ष के लिए जाने जाते हैं, जिन्हें व्यक्तिगत तौर पर इसकी बहुत कीमत चुकानी पड़ी थी। और यह उनकी कोशिशों का ही नतीजा था कि अमेरिकी टोबेको उद्योग पर तमाम बन्दिशें लगीं, ऐसे कानून बने कि टोबेको कम्पनियों के मालिकों को राज्यों को कई कई बिलियन डालर मुआवजा देना पड़ा ताकि वह धूम्रपान जनित बीमारियों के मेडिकल खर्च भरें।

दिल्ली में आयोजित अपने व्याख्यान में भी उन्होंने इस बात को फिर दोहराया कि इस बात के तमाम तथ्य मौजूद हैं जो टोबेको का इस्तेमाल और उसकी लत के बीच के अन्तर सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं। उनका कहना था कि भारत के चुने हुए प्रतिनिधियों को चाहिए कि वे सार्वजनिक स्वास्थ्य, सुरक्षा और लोगों के सम्मान की रक्षा की खातिर टोबेको की बढ़ती लत को रोकने के लिए ठोस कदम उठाएं। मालूम हो कि दिल्ली में पिछले दिनों एण्डगामे टोबेको के नाम से बुलाए गए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में

भाग लेने के लिए विगेण्ड आए थे, जिस सम्मेलन में 55 मुल्कों से आए 500 से अधिक प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया।

यह जानना समीचीन होगा कि विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा 2025 तक टोबेको के उपयोग में 30 फीसदी कमी लाने का लक्ष्य रखने के बाद टोबेको नियंत्रण पर वैश्विक विमर्श टोबेको एण्डगामे अर्थात् टोबेको के साथ अन्तिम लड़ाई की अवधारणा के इर्द-गिर्द समेटता दिख रहा है, जिसके अन्तर्गत टोबेको की उपलब्धता एवं उपयोग को न्यूनतम स्तर लाने की कोशिश होगी। प्रस्तुत सम्मेलन इसी संकल्प को नई धार देने के लिए बुलाया गया था। वैसे टोबेको पर नियंत्रण की जब भी बात चलती है तब यह कहा जाता है कि इससे लोगों की व्यक्तिगत आजादी एवं चॉईस के अधिकार में राज्य की सीधी दखलंदाजी उजागर होती है। मगर इससे मानवता की हो रही प्रचण्ड हानि को देखें तो ऐसे नियंत्रण निश्चित ही जरूरी दिखते हैं। उदाहरण के तौर पर बीसवीं सदी में इसके चलते 10 करोड़ लोगों की मौत हुई और अगर वर्तमान प्रवृत्तियों को देखें तो इक्कीसवीं सदी में लगभग 100 करोड़ लोग इससे कालकवलित होंगे। पिछले साल पूरी दुनिया में इससे होने वाली मौतों की



संख्या थी 60 लाख जो 2025 से 2030 के दरमियान 80 लाख प्रतिवर्ष पहुंचेगी। अगर हम भारत की बात करें तो वहां 27.5 करोड़ लोग टोबेको का इस्तेमाल किसी न किसी रूप में करते हैं और इससे जनित बीमारियों के चलते दस लाख लोग सालाना करते हैं। इस खतरे से निपटने के लिए वर्ष 2003 में फ्रेमवर्क कन्वेंशन फार टोबेको कंट्रोल अपनाया गया। यह कहा जा सकता है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन की पहल पर सार्वजनिक स्वास्थ्य की बेहतरी के लिए अपनाया गया यह पहला समझौता/ट्रिटी था, जिसमें संगठन ने कई ऐसे कदमों को प्रस्तावित किया था ताकि टोबेको की खपत में कमी लायी जा सके। ये कदम इस प्रकार हैं - टोबेको पर कर बढ़ाना, टोबेको के विज्ञापनों के सभी रूपों पर पाबन्दी, कार्यस्थलों एवं सार्वजनिक जगहों को धुआंरहित बनाना, सख्त स्वास्थ्य सम्बन्धी

चेतावनियों का प्रचार एवं ऐसे लोग जो टोबेको छोड़ना चाहते हैं, उन्हें सहायता प्रदान करना। यह भी स्पष्ट है कि तमाम मुल्कों ने इनमें से चन्द कदमों को ही अपनाया है। गौरतलब है कि 177 मुल्कों ने जहां इस समझौते को स्वीकारा है, वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका, अर्जेन्टीना, इंडोनेशिया और स्विट्जरलैण्ड जैसे देशों ने इससे सहमति देने से इंकार किया है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की प्रमुख सुश्री मार्गरेट चान

विश्व स्वास्थ्य संगठन की प्रमुख सुश्री मार्गरेट चान द्वारा इस सम्मेलन में किया गया यह खुलासा भी सुर्खियां बना जब उन्होंने बताया कि महिलाओं एवं युवकों पर फोकस करने की टोबेको उद्योग की रणनीति के खिलाफ यूरोपीय संघ के एक प्रस्तावित कदम को अन्दर से कमजोर करने में ऐ विश्वविख्यात टोबेको कम्पनी (फिलिप्स मॉरिस) लगी है। मालूम हो कि यूरोपीय संघ का यह विधेयक टोबेको प्रॉडक्ट्स डायरेक्टिव अर्थात टीपडी लागू होता है तो तमाम टोबेको उत्पादों पर बड़े-बड़े चित्रों में स्वास्थ्य सम्बन्धी चेतावनी प्रकाशित करना अनिवार्य होगा जिससे तमाम जानें बच सकती हैं।

द्वारा इस सम्मेलन में किया गया यह खुलासा भी सुर्खियां बना जब उन्होंने बताया कि महिलाओं एवं युवकों पर फोकस करने की टोबेको उद्योग की रणनीति के खिलाफ यूरोपीय संघ के एक प्रस्तावित कदम को अन्दर से कमजोर करने में एक विश्वविख्यात टोबेको कम्पनी (फिलिप्स मॉरिस)

लगी है। मालूम हो कि यूरोपीय संघ का यह विधेयक टोबेको प्रॉडक्ट्स डायरेक्टिव अर्थात टीपडी लागू होता है तो तमाम टोबेको उत्पादों पर बड़े-बड़े चित्रों में स्वास्थ्य सम्बन्धी चेतावनी प्रकाशित करना अनिवार्य होगा जिससे तमाम जानें बच सकती हैं। मगर चूंकि टोबेको की खपत कम होने से इस धंधे में लगी कम्पनियों को घाटा होता है, लिहाजा बिल को रोकने की तमाम कोशिशों में बड़े-बड़े धुरंधर पैरवीकार फर्म लगी हैं। और इसके लिए सबसे आसान तरीका यही अपनाया गया है कि बिल

पर वोटिंग टाल दो ताकि यूरोपीय संघ का अध्यक्ष पद जो फिलहाल लिथुआनिया के पास है, वह जनवरी में ग्रीस के प्रतिनिधि के पास जाए और पूरा सिलसिला नए सिरे से शुरू हो। याद रहे कि लिथुआनिया जहां टोबेको पर नियंत्रण का हिमायती है, वहीं ग्रीस इसका सख्त विरोधी हैं। जानकारों के मुताबिक जल्द ही फिलिप्स मॉरिस अपना एक विशाल सेन्टर ग्रीस में खोलने जा रहा है। अभी ज्यादा दिन नहीं हुआ जब लन्दन से प्रकाशित अखबार गार्जियन ने चन्द



दस्तावेजों के अंश प्रकाशित करके बताया था कि किस तरह फिलिप मॉरिस नाम की इस कम्पनी ने मतदान को टालने के लिए अरबों डॉलर खर्च किए हैं।

सम्मेलन में बोलते हुए स्वास्थ्य मंत्री जनाब गुलाम नबी अजाद ने बताया कि किस तरह टोबेको पर नियंत्रण कायम करना अब वक्त की जरूरत बन गया है। उदाहरण के तौर पर, अगर हम भारत के 27 राज्यों एवं संघीय प्रदेशों द्वारा कुछ समय पहले गुटखा पर पाबन्दी के कदम को देखें तो उसे भारत सरकार के इस दिशा में अहम कदम के तौर पर देखा जा सकता है। मगर क्या इतना काफी है। सरकार, नागरिक समाज और न्यायपालिका की साझी कोशिशों के चलते जहां टोबेको के प्रत्यक्ष विज्ञापन पर पाबन्दी भी लगी है, मगर अपना खपत बढ़ाने के लिए आमदा टोबेको उद्योग जिसे सरोगेट विज्ञापनबाजी कहा जाता है, उसका आज भी सहारा लेता है। उदाहरण के लिए चूंकि शराब के विज्ञापन पर पाबन्दी है तो शराब की कम्पनियां उसी अन्दाज में अपने मिनरल वॉटर या अन्य किसी पेयजल का प्रचार करती है। बच्चों एवं महिलाओं को टोबेको के उपभोग के लिए प्रेरित करने के जो प्रयास चलते हैं उनकी भी काट डूँढना होगा। क्या यह मुमकिन नहीं कि ऑस्ट्रेलिया की तरह टोबेको के उत्पादन सीधी पैकेजिंग में बेचे जाएं ताकि रंगबिरंगी पैकेजों के चलते लोगों को अनावश्यक ढंग से आकर्षित न किया जा सके। भारत के बारे में यह बात भी विदित है कि टोबेको की खपत को कम करने के लिए उनसे टैक्सेशन अर्थात् करों का न्यूनतम इस्तेमाल करता है। उदाहरण के लिए बीड़ी उद्योग टैक्स के दायरे के बाहर है।

सम्मेलन के आयोजकों की तरफ से प्रस्तुत वक्तव्य में इस बात को विशेष तौर पर रेखांकित किया गया कि 2015 के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ के विकास के एजेण्डा को देखते हुए टोबेको को महज स्वास्थ्य के लिए खतरे के तौर

पर नहीं बल्कि दीर्घकालीन/सस्टेनेबल डेवलपमेण्ट के दुश्मन के तौर पर भी देखा जाना चाहिए। टोबेको पर्यावरण को भी नुकसान पहुंचाता है क्योंकि टोबेको के पत्तों को ठीक करने के लिए लकड़ियां जलानी पड़ती हैं और जिसके लिए पेड़ काटते हैं, इतना ही नहीं पैकेजिंग के लिए कागज के इस्तेमाल के पीछे भी पर्यावरण को नुकसान निहित होता है। टोबेको एक ऐसी फसल होती है जो अन्य फसलों की तुलना में पानी एवं जमीन के अन्य पोषक पदार्थों को जल्दी सोखता है और उसके लिए बड़े पैमाने पर कीटनाशकों का इस्तेमाल होता है। पब्लिक हेल्थ फाउण्डेशन के अध्यक्ष श्री के श्रीनाथ रेड्डी के मुताबिक एक ऐसी दुनिया में जहां अनाज की असुरक्षा बढ़ रही हो, वहां क्या हम इस बात की इजाजत दे सकते हैं कि 40 लाख हेक्टेर खेती योग्य जमीन एक हत्यारी फसल के लिए प्रयुक्त हो? दुनिया के पैमाने पर गरीब लोग टोबेको का अधिक सेवन करते हैं और अधिकाधिक गरीबी में टोबेको का अधिक सेवन करते हैं और अधिकाधिक गरीबी में ढकेले जाते हैं। आंकड़े यह भी बताते हैं कि 2030 तक आते-आते टोबेको जनित बीमारियों से होने वाली मौतों का अस्सी प्रतिशत गरीब एवं मध्यम आय वाले देशों में होगा। वैश्विक गरीबी को कम करने के लिए बन रहे किसी विकास के एजेण्डा में टोबेको के खतरे की कैसे उपेक्षा की जा सकती है। तय बात है इक्कसर्वी सदी को मानवीय इतिहास का आखरी कालखण्ड बनाना होगा जहां कोई व्यक्ति टोबेको जनित बीमारी से मरता हो या तीन सौ सिगरेट बनाने के लिए एक पेड़ को मारा जाता हो। तय बात है कि टोबेको के उद्योग पर नियंत्रण नहीं पाया जा सकता है, उसकी समाप्ति का लक्ष्य लेकर ही इन्सानियत को आगे बढ़ना होगा।

(साभार : पीपुल्स समाचार)

□ □ □



दरकिनार होते छोटे किसान

● प्रो. विजय शंकर व्यास



देश में बहुसंख्यक छोटे और सीमांत किसान एक ओर बाजार पर अधिकाधिक आश्रित हैं, तो दूसरी ओर कृषि सम्बन्धित संस्थाएं और बहुत हद तक कृषि नीति भी उनकी अवहेलना करती है।

विगत वर्षों में भारत की कृषि में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, जिन पर न तो नीति-निर्धारकों का और न ही साधारणजन का पूरा ध्यान गया है। हमारी परम्परागत धारणाएं यथा, कृषि एक जीवन पद्धति है व्यापार नहीं, कृषि पूर्णतः वर्षा पर आधारित है अथवा कृषक मुख्यतः अनाज ही पैदा करते हैं, आदि पर अब पुनर्विचार करने की जरूरत है। बाजार के परिवर्तनों ने कृषि उत्पादन और उपादानों पर गहरा असर किया है। कृषि विज्ञान और कृषि में सरकारी एवं व्यक्तिगत निवेश से भी बड़ी तब्दीलियां आई हैं। इनमें से कुछ एक महत्वपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख करना और उनके परिणामों को इंगित करना समीचीन होगा। कृषि उत्पादन पर वर्षा का असर धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। भयंकर अकाल या बाढ़ की स्थिति को छोड़ दें, तो वर्षा में साधारण फेर का खेती की पैदावार में उसी मात्रा में असर नहीं होता है। उसका मुख्य कारण यह है कि कृषि के दो प्रमुख मौसमों में, पिछले वर्षों में खरीफ (ग्रीष्म ऋतु में वर्षा आधारित) फसलें ही प्रमुख थीं। हाल के वर्षों में यह परिस्थिति बदल गई है। खरीफ के बाद रबी (शरद ऋतु की, अधिकांश सिंचाई पर आधारित) फसलें भी उतनी ही महत्वपूर्ण हो गई हैं। दोनों ऋतुओं में पैदा होने वाली फसलों का अनुपात लगभग बराबर हो गया है। मुख्यतः सिंचाई के विस्तार के कारण रबी की फसलों- गेहूं, चना आदि का महत्व दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है।

दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन कृषि में आनुसंगिक क्षेत्रों का है, जिनमें दुग्ध उत्पादन, फल-सब्जी उत्पादन, मछली

पालन, मुर्गी पालन प्रमुख हैं। वर्तमान में कृषि की सकल आय में 50 प्रतिशत से अधिक हिस्सा अनाज और अन्य फसलों से नहीं, इन आनुसंगिक क्षेत्रों की पैदावार से उत्पन्न होता है। फसलों में भी अनाज का महत्व दिनोंदिन कम होता जा रहा है और जिन्हें 'व्यापारिक फसलें' कहते हैं यथा कपास, तेलबियां आदि का महत्व बढ़ता जा रहा है। इसी प्रकार अनाज में भी मोटे अनाजों-ज्वार, बाजरा आदि का क्षेत्रफल कम होता जा रहा है और धान व गेहूं की खेती का क्षेत्रफल अपेक्षाकृत बढ़ता जा रहा है। खेती के आनुसंगिक क्षेत्रों तथा 'व्यापारिक' फसलों के बढ़ते प्रभाव का मुख्य कारण इन वस्तुओं की मांग में बढ़ोतरी होना है। आमदनी के बढ़ने के साथ दूध, फल, सब्जी, अंडे और मांस, मछली की मांग बढ़ जाती है और उत्पादक भी जहां तक सम्भव हो, इनके उत्पादन के लिए अधिक ध्यान देते हैं। मुख्यतः स्वनिर्भरता पर आधारित खेती अब बाजार पर आधारित खेती बन गई है। फलस्वरूप देश का किसान बाजार से अधिकाधिक जुड़ रहा है, बाजार में प्राप्त मूल्य उसकी आमदनी तय करते हैं। केवल उत्पादन की दृष्टि से ही नहीं, खेती में प्रयोग होने वाले उपादानों में भी जबरदस्त बदलाव आया है। दिनोंदिन रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाएं और खरीदे हुए बीजों का उपयोग अधिकाधिक हो रहा है। सबसे बड़ा परिवर्तन ऊर्जा के उपयोग में आया है। बैलों द्वारा की जाने वाली खेती अथवा चड़स से उंटों द्वारा कुएं का पानी निकालना अब इतिहास हो गया है। ट्रैक्टरों और डीजल व बिजली से चलने वाले पंपों का उपयोग



लगभग सार्वजनिक हो गया है। 1982-83 से 2009-10 तक रासायनिक उर्वरकों की खपत 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ रही थी, बिजली की खपत 7 प्रतिशत और डीजल की खपत 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ रही थी। खरीदे गए उपादानों की मात्रा हर वर्ष बढ़ती जा रही है। स्वाभाविक ही कृषि उपज की लागत भी बाजार पर अधिकाधिक निर्भर हो रही है।

जहां एक ओर खेती का जबरदस्त बाजारीकरण हो रहा है, वहीं खेती में लिप्त एक बड़े वर्ग को इसका अधिकाधिक खमियाजा भोगना पड़ रहा है, क्योंकि केवल उत्पादनों और उपादानों की संरचना में ही बदलाव नहीं आया है, खेती के ढांचे में भी बदलाव आ रहा है। आज भारत में 83 प्रतिशत किसान 2 हैक्टेयर से कम की जो पर खेती करते हैं। इतना ही महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि वे छोटे और सीमांत किसान सम्पूर्ण खेती में करबी 50 प्रतिशत हिस्सेदारी रखते हैं और उनकी संख्या और उनके द्वारा की जाने वाली खेती का क्षेत्रफल दिनोंदिन बढ़ रहा है। परन्तु कृषि को सहायता देने वाली सभी संस्थाएं, सरकारी अथवा व्यापारिक इस वर्ग की जरूरतों को महत्व नहीं देती हैं। ये संस्थाएं मुख्यतः मध्यम और बड़ किसानों के लिए ही लाभदायक हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि देश के बहुसंख्यक छोटे और सीमांत किसान दोहरी मार झेल रहे हैं। एक ओर उन्हें बाजार पर अधिकाधिक आश्रित होना पड़ रहा है, जिसके नियंत्रण की क्षमता उनमें नहीं है, दूसरी ओर, कृषि सम्बन्धित संस्थाएं और बहुत हद तक कृषि नीति भी छोटे और सीमांत किसानों की अवहेलना करती है।

इन परिस्थितियों में खेती का लक्ष्य केवल उत्पादन बढ़ाना ही नहीं रह सकता। अब यह लक्ष्य मुख्यतः छोटे उत्पादकों को पर्याप्त जीविका उपलब्ध कराना हो गया है और वे ऐसे उत्पादक हैं, जिनकी जोत की जमीन तो कम है ही, उन्हें उत्पादन करने के साधन भी आसानी से और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। यह मानकर यहीं चलना चाहिए कि बाजार की संस्थाएं अथवा सरकारी कर्मचारी सदैव छोटे और सीमांत किसानों की अवहेलना

एक ओर खेती का जबरदस्त बाजारीकरण हो रहा है, वहीं खेती में लिप्त एक बड़े वर्ग को इसका अधिकाधिक खमियाजा भोगना पड़ रहा है, क्योंकि केवल उत्पादनों और उपादानों की संरचना में ही बदलाव नहीं आया है, खेती के ढांचे में भी बदलाव आ रहा है। आज भारत में 83 प्रतिशत किसान 2 हैक्टेयर से कम की जो पर खेती करते हैं।

जान-बूझकर करते हैं। इन असंख्य छोटी-छोटी इकाइयों को सेवा और साधन प्रदान करने में आने वाला खर्च, संस्थाओं और कर्मचारियों को उन तक सेवाएं पहुंचाने में बाधक सिद्ध हो रहा है। खेती में बाजारीकरण की प्रक्रिया और बहुसंख्यक किसानों की जोत का दिनोंदिन कम होता क्षेत्रफल निकट भविष्य में बदलने वाली प्रवृत्तियां नहीं है। इसलिए अब नीतियां बनाते समय दो बातों पर ध्यान रखना पड़ेगा। एक, बाजार की व्यवस्था में छोटा किसान नुकसानदेह स्थिति में नहीं आए और दूसरा, सरकार द्वारा खेती में दिए जाने वाली सभी सुविधाएं छोटे और सीमांत किसानों को भी मुहैया हों।

यदि इन दोनों लक्ष्यों को पूरा करना है और खेती से जुड़े इस विशाल वर्ग को बचाना है, तो छोटे और सीमांत किसानों को एकजुट करने की, संगठित करने की महती आवश्यकता है, ये संगठन सहकारी संस्थाओं के रूप में हो सकते हैं अथवा उत्पादकों की कम्पनियों के रूप में।

(साभार : पत्रिका)





कुपोषण के नाम पर किसका 'पोषण'

● राखी रघुवंशी

मध्यप्रदेश में हर साल करीब 30 हजार बच्चे अपना पहला जन्मदिन तक नहीं मना पाते काल के गाल में समा जाते हैं, ये वो अभागे अबोध बच्चे हैं, जो धरती पर पैर रखने के साथ ही कुपोषण के शिकार होते हैं और जन्म के बाद पोषण आहार की कमी के चलते अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं, इसी कलंक की बदौलत मध्यप्रदेश देश के उन पिछड़े राज्यों में शुमार है, जहां शिशु मृत्यु दर 70 प्रति हजार है।

मध्यप्रदेश के माथे पर लग चुके कुपोषण के कलंक को मिटाने के लिए प्रदेश सरकार जहां पानी की तरह पैसा बहा रही है वहीं आज भी म.प्र. में कुपोषण के नाम पर कुपोषित का नहीं, बल्कि किसी और का पोषण हो रहा है। मध्यप्रदेश में हर साल करीब 30 हजार बच्चे अपना पहला जन्मदिन तक नहीं मना पाते काल के गाल में समा जाते हैं। ये वो अभागे अबोध बच्चे हैं, जो धरती पर पैर रखने के साथ ही कुपोषण के शिकार होते हैं और जन्म के बाद पोषण आहार की कमी के चलते अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं, इसी कलंक की बदौलत मध्यप्रदेश देश के उन पिछड़े राज्यों में शुमार है, जहां शिशु मृत्यु दर 70 प्रति हजार है। गरीबी, पिछड़ेपन और अशिक्षा की मार झेल रहे मध्यप्रदेश में कुपोषण की स्थिति चिंताजनक है, जबकि प्रदेश की भाजपा सरकार इसे लेकर गंभीर नहीं है। हालांकि पिछले दिनों भारत सरकार द्वारा राज्य सरकार और केन्द्र के अधिकृत प्रतिवेदनों के आधार पर जारी रिपोर्ट के बाद प्रदेश सरकार को शम 4 से झुकना पड़ा और उसने स्वीकार किया कि मध्यप्रदेश में हल साल हजारों बच्चे कुपोषण के कारण बेमौत मारे जाते हैं और इसके बाद प्रदेश सरकार ने इससे निजात का वादा किया और जिसका

आगाज अटल बाल आरोग्य मिशन के तौर पर की गई है पर देखना यह है कि यह मिशन प्रदेश के माथे से इस कलंक को मिटाने में कितना सफल हो सकेगा।

मध्यप्रदेश को कुपोषण की समस्या से निजात दिलाने का वायदा आश्वासन बनकर ही रह गया। आंकड़े इसके प्रमाण हैं, वर्ष 2008-09 में राज्य में कुपोषण के कारण 29 हजार 274 बच्चों की मौत होने की पुष्टि खुद राज्य सरकार ने विधानसभा में की है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के आंकड़ों के अनुसार प्रदेश में कुपोषण 54 प्रतिशत से बढ़कर 60 प्रतिशत पहुंच गया है। रिपोर्ट के अनुसार मध्यप्रदेश में 12.6 प्रतिशत बच्चे गंभीर रूप से कुपोषण का शिकार हैं, जबकि देश में औसतन 6.4 प्रतिशत बच्चे ही गंभीर रूप से कुपोषित हैं। मध्यप्रदेश में 13 लाख 35 हजार बच्चे (पाँच वर्ष तक की आयु के) गंभीर रूप से कुपोषित हैं तो प्रदेश में पिछले 32 महीनों में 82 हजार से अधिक शिशुओं की मौत हो चुकी है। इसमें अकेले सतना जिले में इस दौरान करीब 5 हजार से अधिक शिशुओं की मौत हुई, जो कि प्रदेश में सर्वाधिक हैं।

विधानसभा चुनाव में कांग्रेस और भाजपा दोनों ही प्रमुख दलों ने चुनावी घोषणा पत्रों में राज्य को कुपोषण



मुक्त बनाने का वायदा किया था, लेकिन कमजोर इच्छाशक्ति, उदासीन प्रशासन तंत्र, शासन प्रशासन में भ्रष्टाचार और जनता के प्रति के लिए बच्चों की तीन श्रेणियां तय की गईं। इसमें सामान्य, कम वजन और अति गंभीर कुपोषित बच्चों के आधार पर सर्वे किया गया। इस अभियान के तहत कुल 57 लाख बच्चों का वजन लिया गया, जिसमें से करीब 2 लाख 82 हजार बच्चे अति गंभीर कुपोषित पाए गए, यही नहीं औसत के कम वजन के बच्चों की संख्या भी करीब 18 लाख के आसपास रही, जबकि सामान्य वजन के बच्चों की संख्या मात्र 36 लाख सामने आई।

सरकारी रिपोर्ट के अनुसार मध्यप्रदेश के आदिवासी बहुल जिले में कुपोषण की स्थिति सबसे ज्यादा चिंताजनक पाई गई है, जिनमें राज्य के झाबुआ, अलीराजपुर, मंडला, सीधी, धार और अनूपपुर जिले में अतिकुपोषित बच्चों की संख्या 7 से 15 प्रतिशत तक रही। हालांकि कुपोषण की स्थिति का पता लगाने के लिए बच्चों के वजन नापने के इस अभियान में कई तरह की खामियां और गड़बड़ियां भी सामने आईं, जिसके कारण प्रदेश में कुपोषण के शिकार बच्चों की वास्तविक स्थिति सामने नहीं आ सकी। ऐसे में

इन नतीजों पर पूरी तरह से भरोसा तो नहीं किया जा सकता, किंतु यह राज्य सरकार और उसके कर्ता-धर्ताओं के लिए आँख खोलने वाले हैं। गड़बड़ियों में वजन मापने की मशीनों की कमी के कारण 30 हजार से ज्यादा आंगनवाड़ी केन्द्रों में दूसरे स्थानों से मशीनें लाई गईं और कई मशीनें बिगड़ जाने से सुदूर ग्रामीण अंचलों में उन्हें सुधारा भी नहीं गया और मनमाने तौर पर बच्चों का वजन लिया गया। फिर भी इन ताजे परिणामों से भी यह सिद्ध होता है कि मध्यप्रदेश में बच्चों में कुपोषण की स्थिति काफी खतरनाक स्थिति में है।

कुपोषण को लेकर प्रदेश सरकार और प्रशासनिक अलमा कितना गंभीर है इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि मध्यप्रदेश में समेकित बाल विकास सेवाओं के लिए पूरे राज्य में जहां एक लाख 46 हजार आंगनवाड़ी केन्द्रों की जरूरत है, वहां राज्य में केवल 70 हजार आंगनवाड़ी केन्द्र ही संचालित हो रहे हैं, जो कि राज्य के मात्र 76 फीसदी बच्चों को ही अपनी सेवाएं दे पा रही हैं।

(साभार : नवभारत)



“A leader is best when people barely know he exists, when his work is done, his aim fulfilled, they will say: we did it ourselves.”

— Lao Tzu

“A leader is one who sees more than others see, who sees farther than others see, and who sees before others see.”

— Leroy Eimes



नदियों की चिंता

नदी प्रदूषण भारत की बड़ी समस्या है। यह प्रतीकात्मक तरीकों से हल नहीं होने वाली। इसके लिए हमें उद्योग और समाज में ऐसे दूरगामी मॉडल की आवश्यकता है जो उन्हें स्वच्छ रख सके।

अ | खबारों में एक खबर है कि गंगा और यमुना में मूर्तियों को विसर्जित नहीं किया जा सकेगा? यह खबर अच्छी है और आश्चर्यजनक है। लेकिन दो कारणों से चकित करती है। इसके दो कारण हैं? एक तो यह कि कहीं यह नदियों के प्रदूषण से ध्यान हटाने की कोई बड़ी साजिश तो नहीं? और दूसरा यह कि मूर्तियां साल भर में कितना प्रदूषण करती हैं? और मूर्तियां ही क्यों प्रतिबंधित हैं? एक अनुमान के अनुसार चमड़े की फैक्ट्री एक दिन में जितना नदी को प्रदूषित करती है, आस्था से विसर्जित मूर्तियां उतना बीस साल में भी नहीं कर सकतीं। तब सवाल है कि पूरा ध्यान इन मूर्तियों पर इसलिए तो केन्द्रित नहीं किया जा रहा है कि इससे बड़ी प्रदूषण फैलाने वाले उद्योगों से जनता का ध्यान भंग हो। यहां यह सब कहने का अर्थ यह नहीं है कि रसायनिक रंगों से रंगी मूर्तियां पानी में डालना उचित है। प्रदूषण तो एक बूंद का भी हो तो गलत है लेकिन मूल मुद्दा है कि हम प्रदूषण के हर प्रकार पर बात करें। वह औद्योगिक भी हो, धार्मिक या किसी अन्य प्रकार का, प्रदूषण की संपूर्णता में बात होना चाहिए और हर नदी-नाले, तालाब कुएँ जैसे भी जल स्रोतों पर यह नियम लागू किया जाना चाहिए। भारतीय हर नदी को गंगा का ही रूप मानता है। वह आधुनिक विकास प्रक्रिया में प्राकृति जल संसाधनों का बेरहमी से दोहन और शोषण किए जाने से देश की सभी प्रमुख नदियां जल प्रदूषण, भूक्षरण, की समस्याओं से ग्रस्त हैं और प्रवाह मार्ग में बांध, नहर निर्माण, जल प्रवाह के कृत्रिम मार्ग बनाने की प्रक्रिया आदि

से नदियों का जल ग्रहण क्षेत्र भी कम हो रहा है। भारत की परम पवित्र नदी गंगा में प्रदूषण को लेकर देश भर में चिंता व्याप्त है। भारत सरकार समस्या से अनजान नहीं है। सरकार का प्रदूषण नियंत्रण मंडल और जलसंसाधन मंत्रालय राज्यों के सहयोग से नदियों की स्थिति का जायजा लेती रहती है। जलसंसाधन मंत्रालय की सरकारी रिपोर्ट बताती है कि केवल गंगा ही नहीं बल्कि यमुना, नर्मदा, चंबल, बेतवा, सोन, गोदावरी, कावेरी आदि सभी प्रमुख नदियां जलप्रदूषण की गंभीर समस्या से ग्रस्त हैं और दिनों दिन नदियों में प्रदूषण की समस्या गंभीर होती जा रही है।

गंगा देश की प्रमुख नदी है और उसे पवित्र बनाए रखना समाज की जिम्मेदारी है। अप्रैल 1985 में गंगा एक्शन प्लान की शुरुआत हुई और बीस सालों में इस पर 1200 करोड़ रुपये खर्च हुए। लेकिन हम वे चीजें नहीं हटाते जिनसे प्रदूषण फैलता है।

ऋषिकेश से लेकर कोलकाता तक गंगा के किनारे परमाणु बिजलीघर से लेकर रासायनिक खाद तक के कारखाने लगे हैं। उन्हें हटाने के लिए कोई योजना सरकार के पास नहीं है। जिन जनहित याचिकाओं पर यह फैसला आया है उनका प्रयास संपूर्ण प्रदूषण के लिए ध्यान केन्द्रित करेगा और लोगों में यह जागरूकता आएगी कि नदियां सामाजिक जीवन का हिस्सा हैं उनकी सुरक्षा और स्वच्छता पहली प्राथमिकता होना चाहिए।

(साभार : पीपुल्स समाचार)





कुपोषण : जिदंगी की जंग हारते बच्चे

● अमिताभ पाण्डेय

सरकार और समाज का यह घोषित प्रयास होता है कि बच्चों को उनके जन्म के समय से ही ऐसा अनूकूल वातावरण मिले जिससे उनका अबाधित शारीरिक - मानसिक विकास सुनिश्चित हो सके। हर बच्चे का स्वास्थ्य बेहतर हो, उसे पलने बढ़ने के लिए पर्याप्त पोषण से भरपूर भोजन के साथ ही अन्य आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध हों। बच्चों के हित में योजनाओं का क्रियान्वयन करने के लिए केन्द्र और राज्य सरकार प्रतिवर्ष अपने बजट में बड़ी रकम का प्रावधान करती है। इस रकम का उपयोग बच्चों को विभिन्न बीमारियों से बचाकर स्वस्थ बनाये रखने उनके लिए पोषक तत्वों से भरपूर पोषण आहार का इंतजाम करने में किया जाता है।

यह पोषण आहार प्रत्येक गाँव, शहर में पहुँचे इसके लिए मध्यप्रदेश में महिला बाल विकास विभाग के अंतर्गत समेकित बाल विकास सेवा योजना का संचालन किया जा रहा है। राज्य सरकार का दावा है कि इस योजना के तहत प्रदेश में 453 बाल विकास परियोजनाएं कार्यरत हैं। प्रदेश में 80 हजार 160 आंगनवाड़ी और 12 हजार 70 मिनी आंगनवाड़ी केन्द्रों के माध्यम से प्रदेश के सभी गाँव - शहरों में 0 से 6 वर्ष आयु समूह के सभी बच्चों को पोषण आहार नियमित दिये जाने के साथ ही बच्चों के स्वास्थ्य की जाँच भी की जा रही है। अधिकारिक जानकारी के मुताबिक बच्चों को पर्याप्त पोषण आहार उपलब्ध करवाकर स्वस्थ बनाये रखने पर अलग अलग कार्यक्रमों के माध्यम से साढ़े तीन हजार करोड़ से ज्यादा की रकम खर्च किये जाने की प्रक्रिया जारी है। इस बड़ी रकम के खर्च से यह माना जा सकता है कि मध्यप्रदेश का हर बच्चा स्वस्थ, मस्त होगा। सही भी तो है, भला 3 करोड़ से ज्यादा की रकम खर्च की जा रही है तो भूखे, कमजोर, बीमार बच्चों के लिए इस

प्रदेश में कोई जगह नहीं होना चाहिये। अफसोस इस बात है कि बच्चों को तंदरुस्त बनाये रखने की तमाम सरकारी योजनाओं के बावजूद मध्यप्रदेश में बच्चों की एक बड़ी संख्या भूख, बीमारी, कमजोरी से संघर्ष कर रही हैं। देश ही नहीं दुनिया में सर्वाधिक कमजोर, कुपोषित बच्चे हमारे ही प्रदेश में जिदंगी और मौत से संघर्ष कर रहे हैं। बल्कि संघर्ष करते करते मौत में मुँह में चले जा रहे हैं। भूख, कमजोरी, बीमारी, कुपोषण से मरने वाले बच्चों की अब तक इनती मौतें इस राज्य में हो चुकी है कि यह गंभीर मामला अब अखबारों की सुर्खियां भी नहीं बनता। इसकी एक बड़ी वजह शायद यह है कि मरने वाले ज्यादातर बच्चे कमजोर, गरीब समुदाय के हैं। यह समुदाय आदिवासियों मजदूरों का है जिनकी मुसीबत जंगल से बेदखल कर दिये जाने के बाद बढ़ गई है।

उनके सामने पेट भरने का संकट गहरा गया है। जब तक आदिवासी समुदाय जंगल पर आश्रित रहकर अपना जीवन गुजारते रहे तब तक उनको पेट भरने की चिन्ता नहीं थी। जंगल से मिलने वाले फल, भाजी, कोदो, कुटकी, बाजरा सहित अन्य खाद्यान्न ने उनका पेट भरते हुए जीवन के लिए जरूरी पोषक तत्वों की पूर्ति भी की। याद कीजिए आज से पाँच-छह दशक पहले किसी ने आदिवासी समुदाय को भूख, कुपोषण से जूझते नहीं देखा था। वन से मिलने वाली उपज ने उन्हें कुपोषण से सदैव बचाये रखा। जब जंगल से बेदखल किये जाने के बाद रोजी रोटी के चक्कर में पोषक तत्वों से भरपूर खाद्यान्न तो दूर रोजाना भरपेट रोटी मिल जाना भी बड़ी बात हो गया है। ऐसे में जब आदिवासी समुदाय के महिला पुरुष खुद ही भूखे कमजोर रहेंगे तो उनके बच्चों को कमजोर, बीमार, कुपोषित होने से कौन बचा सकेगा। हाल ही में भारत सरकार के राष्ट्रीय



पोषण संस्थान ने देश में सर्वेक्षण के बाद जो आंकड़ें जारी किये हैं वे बताते हैं कि मध्यप्रदेश में 60 प्रतिशत से अधिक बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। इन कुपोषित बच्चों में लगभग 72 प्रतिशत बच्चे आदिवासी समुदाय से हैं।

इस समुदाय की 60 प्रतिशत से ज्यादा महिलाओं में एनीमिया की बीमारी पाई गई जिसके कारण उनके शरीर में खून की कमी हो जाती है। जब माँ के शरीर में खून की कमी होगी तो बच्चे को कुपोषण का शिकार होने से कौन रोक पायेगा? सर्वेक्षण के अनुसार मध्यप्रदेश के सहरिया आदिवासियों के बच्चे सर्वाधिक कुपोषण के शिकार हैं। यह कुपोषण इथोपिया और चाड देशों में होने वाले कुपोषण से ज्यादा है। शायद इसी कारण सहरिया आदिवासियों के बच्चों की शिशु मृत्यु दर 123 दशमलव 28 है जो कि मध्यप्रदेश की औसत शिशु मृत्यु दर से दुगुनी है। नेशनल सेम्पल सर्वे के आंकड़े बताते हैं कि मध्यप्रदेश में आज भी 0 से 6 वर्ष आयु समूह के बच्चों की शिशु मृत्यु दर प्रति हजार बच्चों पर 56 है जो कि अन्य राज्यों की तुलना में सर्वाधिक है। शिशु मृत्यु दर का राष्ट्रीय औसत प्रति हजार बच्चों पर 44 है जो कि मध्यप्रदेश में मरनेवाले बच्चों से 15 कम है। सवाल यह है कि जब सरकार भरपूर बजट, पोषण तत्वों से भरपूर पोषण आहार की व्यवस्था कर रही हैं तो फिर बच्चे मर क्यों रहे हैं? बच्चों की मौत और सरकार की व्यवस्था, बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण के लिए किये गये इंतजाम और खर्च की गहराई से निष्पक्ष जाँच किये जाने की मांग करती है। सवाल यह भी है कि निष्पक्ष और गहराई से जाँच करे कौन? मरने वाले बच्चे किसी प्रभावशाली समुदाय के तो नहीं हैं।

सरकार के आंकड़ें ही उठाकर देख लीजिए जिनसे यह जाहिर होता है कि धार, झाबुआ, बड़वानी, अलीराजपुर, डिण्डौरी, मण्डला, शिवपुरी, श्योपुर, विदिशा, अशोकनर सहित अन्य जिलों में आदिवासी समुदाय के 45 प्रतिशत से अधिक बच्चे अपना पहला जन्मदिन भी नहीं मना पाते। मतलब यह कि वे एक वर्ष की आयु पूरी होने के पहले ही

दम तोड़ देते हैं। यदि हम विदिशा जिले के गंजबासौदा और नटेरन विकासखण्ड के अन्तर्गत आने वाले गाँव खेजडा तिला, जौहद, गुरोद, उदयपुर, सायबा सहित अनेक गाँव में पिछले 6 वर्ष के दौरान हुई बच्चों की मौत के मामलों का आंकलन करें तो पता चलता है कि इन गाँवों में रहनेवाले सहरिया समुदाय के 180 से ज्यादा बच्चों की मौत हो गई। यह सभी बच्चे कुपोषण भूख गरीबी के कारण मारे गये। यदि सहरिया बस्ती में स्वास्थ्य सुविधाएं पोषण आहार समय पर पहुँचते तो बच्चों की बेवक्त मौत को रोका जा सकता था। आज भी मध्यप्रदेश के किसी भी जिले में रहने वाले सहरिया आदिवासी समुदाय की बस्ती में जाकर देख लीजिए। भूख, गरीबी, कमजोरी, कुपोषण की कहानी वहाँ रहने वाले पुरुष, महिलाओं, बच्चों के चेहरे उनके आसपास माहौल से अपने आप समझ आ जायेगी। सहरिया समुदाय की यह दुर्दुशा अब भी उनके बच्चों को कुपोषण का शिकार होकर मरने से नहीं रोक पा रही हैं। कुपोषण के कारण हुई बच्चों की मौत मध्यप्रदेश विधानसभा में भी चर्चा का विषय बन चुकी है। पूर्व सांसद, पूर्व मंत्री और वरिष्ठ कांग्रेस विधायक महेन्द्र सिंह कालूखेडा के अनुसार मध्यप्रदेश में वर्ष 2005 के बाद से प्रतिदिन 71 बच्चों की मौत कुपोषण से हो रही है। श्री सिंह का आरोप है कि वर्ष 2005 से 2009 के बीच 1 लाख 30 हजार से अधिक बच्चे कुपोषण के कारण मारे गये बच्चों की संख्या 1 लाख 80 हजार को पार कर गई है। उन्होंने कहा कि कुपोषण रोकने के लिए केन्द्र सरकार की ओर से मध्यप्रदेश की 1 हजार 282 करोड़ रुपये स्वीकृत किये। इसके बाद भी बच्चों को कुपोषण के कारण मरने से नहीं रोका जा सका। आज भी सहरिया आदिवासी समुदाय के बच्चे कुपोषण से संघर्ष करते हुए जिंदगी लड़ाई हार रहे हैं। उनकी लगातार मौत हो रही है। दूसरी ओर कुपोषण रोकने के नाम पर कागजी जमा खर्च अधिक और मैदानी स्तर पर कम काम हो रहा है।

(साभार : नई दुनिया)





बारी श्रम का रखा मान

● ऋतु सारस्वत

सभी भारतीय महिलाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे घर के अदृश्य और अवचेतन कार्यों की जिम्मेदारी बखूबी निभाएं। अधिकतम भारतीय महिलाएं जीवनभर काम करती हैं, पर दुखद पहलू यह है कि इस सच्चाई को आधिकारिक तौर पर स्वीकार नहीं किया जाता। एक स्त्री, जो घर के सभी कार्यों को कुशलता से सम्पन्न करते हुए अपने परिवार की देखभाल करती है, उसका शक्ति व श्रम अमूल्य है। उसके त्याग, समर्पण और स्नेह को दरकिनार करते हुए व्यावहारिक दृष्टिकोण को भी मद्देनजर रखा जाए, तो स्त्री के घर में सम्पन्न किए गए कार्य की कीमत बाजारी गणना के अनुरूप हजारों रुपए में होगी।

एक सर्वेक्षण के अनुसार विकासशील देशों और उनमें भी भारत की कामकाजी महिलाएं सर्वाधिक तनाव में रहती हैं। विश्व सूचना एवं विश्लेषण कम्पनी नीलसन की प्रकाशित सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार 87 प्रतिशत भारतीय महिलाओं ने बताया कि ज्यादातर समय वे तनाव महसूस करती हैं, जबकि 82 प्रतिशत भारतीय महिलाओं ने कहा कि उन्हें आराम करने का वक्त नहीं मिलता। सभी भारतीय महिलाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे घर के अदृश्य और अवचेतन कार्यों की जिम्मेदारी बखूब निभाएं। अधिकतम भारतीय महिलाएं जीवनभर काम करती हैं, पर दुखद पहलू यह है कि इस सच्चाई को आधिकारिक तौर पर स्वीकार नहीं किया जाता। एक स्त्री, जो घर के सभी कार्यों को कुशलता से सम्पन्न करते हुए अपने परिवार की देखभाल करती है, उसका शक्ति व श्रम अमूल्य है। उसके त्याग, समर्पण और स्नेह को दरकिनार करते हुए व्यावहारिक दृष्टिकोण को भी मद्देनजर रखा जाए, तो स्त्री के घर में सम्पन्न किए गए कार्य की कीमत बाजारी गणना के अनुरूप हजारों रुपए में होगी। एवेजलिकल

सोशल एक्शन फोरम और ग्लोबल एनजीओ हेल्थ ब्रिगेड की रिपोर्ट के मुताबिक, भारतीय गृहिणियों के काम का वार्षिक वित्तीय मूल्य 600 अरब डॉलर यानी 28,20,000 करोड़ रुपए थी। इन आंकड़ों के हिसाब से एक औसत भारतीय गृहिणी हर साल 78000 रुपए भारतीय अर्थव्यवस्था में जोड़ती है, जबकि कई परिवार और समाज उन्हें 'आराम से जीवन जीने' का उलाहना देता दिखाई देता है।

प्रश्न यह उठता है कि आखिर यह स्थिति क्यों है? यह सर्वविदित सत्य है कि भारतीय सामाजिक संरचना स्पष्टतः दो भागों में बंटी है, स्त्री और पुरुष। स्त्री और पुरुष के अन्तर को जब भी उठाने का प्रयास किया जाता है, तो समाज का एक वर्ग बड़ी ही तत्परता के साथ आपको 'फैमिनिस्टिक एप्रोच' रखने का तमगा पहना देता है, बिना यह जाने और समझे कि 'स्त्री' की पीड़ा कहीं अधिक गहरी है और उसे समझने के लिए संवेदनशीलता की आवश्यकता है। भारतीय पुरुष सत्तात्मक समाज में ज्यादातर परिवारों में सभी निर्णायक क्षमताएं पुरुष सदस्यों के पास ही होती हैं। सत्ता का यह विभेद जन्म से ही आरम्भ



भारत मैट्रिमोनी वेबसाइट चलाने वाली कम्पनी कॉनसिम इंफो प्राइवेट लिमिटेड के सीईओ के अनुसार, 'काम और घर चलाने की बीच संतुलन एक महिला के जीवन में सबसे बड़ी चुनौतियों में से है।' यह स्थिति विशेषकर भारतीय संदर्भ में और गंभीर है, जहां पुरुष घरेलू कामकाज में सहयोग करना उचित नहीं समझते।



हो जाता है। ज्यादातर बेटियों के हिस्से में दायित्वों की फेहरिस्त और ज्यादातर बेटों के हिस्से में दायित्वों की फेहरिस्त और ज्यादातर बेटों के हिस्से में अंतहीन अधिकार होते हैं। अगर हम यह कहें कि समाज बदल रहा है, तो हम स्वयं को भ्रमित कर रहे हैं। हमें यह समझना होगा कि भारतीय समाज एक ओर पश्चिमी संस्कृति को अपनाना चाह रहा है, दूसरी ओर भारतीय संस्कृति के महत्व को नकारना उसके लिए सम्भव नहीं है। कोई भी संस्कृति स्वयं में अच्छी या बुरी नहीं होती, समस्या तब उत्पन्न होती है, जब उसे हम अपनी सुविधा अनुसार तोड़-मरोड़ लेते हैं।

पिछले दो दशकों में, ऐसी महिलाओं की तादाद में आमूलचूल बढ़ोत्तरी हुई है, जो न केवल सामाजिक परिवेश की वजह से, वरन आर्थिक सुदृढ़ीकरण की चाह में घर से बाहर जाकर काम करने का प्राथमिकता दे रही हैं, पर घर और परिवार में आर्थिक सहयोग देने के बावजूद उन्हें परिवार के कार्यों से किसी अंश तक मुक्ति मिलती हो, ऐसा नहीं है। भारत का समाज आज एक संक्रमण दौर से गुजर रहा है।

एक ओर जहां स्त्री को आर्थिक स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया जा रहा है, वहीं दूसरी ओर, सदियों से चली

आ रही जिम्मेदारियों को निभाने की हर विपरीत परिस्थिति में भी सीख दी जाती है। वह भी ऐसी परिस्थिति में जब वेतन विसंगति से लेकर छींटाकशी तक का सामना करना पड़े। बच्चों की देखभाल से लेकर, खाना बनाने तक सभी दायित्व स्त्री के कंधों पर ही होते हैं, जिस पर दफ्तर में बेहतरीन प्रदर्शन की चुनौती। स्वयं को बेहतर पत्नी, बहू और माँ साबित करे या फिर कुशल मुलाजिम, इस दबाव में भारतीय स्त्री कहीं न कहीं शारीरिक और मानसिक रूप से टूट रही है, बीमार हो रही है। घर और दफ्तर के काम के बोझ की मारी ज्यादातर नौकरीपेशा महिलाएं आराम को तरस जाती हैं।

ब्रिटेन में हुए एक सर्वे के मुताबिक सुबह 6 बजे बिस्तर छोड़ने के बाद से रात 11 बजे से पहले उन्हें झपकी लेने तक की फुर्सत नहीं होती। 17 घण्टे अनवरत कार्य करने का नतीजा, उनका शरीर बीमारियों का गढ़ बनने लगता है। भारत मैट्रिमोनी वेबसाइट चलाने वाली कम्पनी कॉनसिम इंफो प्राइवेट लिमिटेड के सीईओ के अनुसार, 'काम और घर चलाने की बीच संतुलन एक महिला के जीवन में सबसे बड़ी चुनौतियों में से है।' यह स्थिति विशेषकर भारतीय संदर्भ में और गंभीर है, जहां पुरुष घरेलू कामकाज में सहयोग करना उचित नहीं समझते। 'सुपर वुमन' के नाम से जानी जाने वाली भारतीय महिलाएं आज एक ऐसे दौर से गुजर रही हैं, जहां हर एल एक दृढ़ उनके भीतर चलता रहता है। बच्चों को समय न दे पाने की ग्लानि उन्हें अवसादग्रस्त बना रही हैं। अर्थ और ममता के बीच का दृढ़ उन्हें भीतर ही भीतर कचोटता है। अब प्रश्न यह है कि क्या इससे मुक्ति संभव है? है, बशर्ते परिवार के पुरुष सदस्य वास्तविक अर्थों में उनके सहयोगी बने। वे स्त्री शक्ति का महत्व समझें, माँ, बहन, पत्नी, बेटे के योगदान को स्वीकारें, उन्हें श्रेय दें, ताकि इस शक्ति को संबल मिले और परिवार-समाज शक्तिशाली बनें।

(साभार : पत्रिका)





उच्च शिक्षा की दुर्दशा, देश धर्मसार

● प्रवीण कुमार

रैंकिंग में विश्व के शीर्ष 200 विश्वविद्यालय में एक भी भारतीय विश्वविद्यालय या शिक्षण संस्थान को शामिल नहीं किया गया है। रैंकिंग के मुताबिक 800 शीर्ष संस्थानों की सूची में हमारे केवल 11 संस्थान हैं। इसमें टॉप पर भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, दिल्ली है जिसकी रैंकिंग 222 है। गौर करने वाली बात है कि 2012 में इसी संस्थान की रैंकिंग 212 थी।

हमारे यहां उच्च शिक्षा की क्या दुर्दशा है, यह 'क्यू वर्ल्ड यूनिवर्सिटीज रैंकिंग' की ताजा सूची से जाहिर होता है। इस रैंकिंग में विश्व के शीर्ष 200 विश्वविद्यालय में एक भी भारतीय विश्वविद्यालय या शिक्षण संस्थान को शामिल नहीं किया गया है। रैंकिंग के मुताबिक 800 शीर्ष संस्थानों की सूची में हमारे केवल 11 संस्थान हैं। इसमें टॉप पर भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, दिल्ली है जिसकी रैंकिंग 222 है। गौर करने वाली बात है कि 2012 में इसी संस्थान की रैंकिंग 212 थी। इससे जाहिर है कि सुधार की जगह हम और नीचे सरकते जा रहे हैं। इस सूची में आईआईटी मुंबई को 233वां, आईआईटी कानपुर को 295वां, आईआईटी चेन्नई को 313वां और आईआईटी खड़गपुर को 346वां स्थान मिला है। एशियाई संस्थानों की एक अलग सूची भी बनाई गई है जिसमें आईआईटी दिल्ली 38वें और आईआईटी मुंबई 39वें स्थान पर है।

शीर्ष शैक्षिक संस्थानों की सूची में अमेरिका के 144, ब्रिटेन के 69, जर्मनी और फ्रांस के 40-40 और जापान के 38 संस्थान हैं। बात यहीं खत्म नहीं होती, एशियाई संस्थानों में चीन, जापान और कोरिया का दबदबा है। हम सैन्य ताकत में चीन की बराबरी करने का सपना पाले हुए हैं, जबकि वाकई जहां हमें बराबरी करने की जरूरत है वहां हम उससे मीलों पीछे हैं। जिस मुंबई यूनिवर्सिटी को हम देश का गौरव मानते हैं वह पाकिस्तान की कायदे आजम

यूनिवर्सिटी से भी पीछे हैं। याद रहे कि चीन और दक्षिण कोरिया उच्च शिक्षा के मोर्चे पर दो दशक पहले भारत जैसे ही थे। साफ है कि उदारिकरण के बाद इन दोनों देशों ने अपनी शिक्षा नीति में आमूलचूल बदलाव लाए और हम केवल बातें ही बनाते रह गए। पिछले कुछ सालों का परिदृश्य देखें तो हमारे यहां केवल दोगम दर्जे के निजी विश्वविद्यालय खुले हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों की गुणवत्ता को लेकर अक्सर यह तर्क सामने आता है कि गुणवत्ता का आधार दूसरे देश का कोई संस्थान तय नहीं कर सकता। ऐसा तर्क देने वालों का कहना है कि जब हमारे शिक्षण संस्थान देशी छात्रों और यहां की इंडस्ट्री की जरूरतों को पूरा कर रहे हैं तो रैंकिंग देने वाले हमें जहां भी रखें, क्या फर्क पड़ता है। जाहिर है ये तर्क वैश्वीकरण के इस माहौल में कुतर्क ही कहे जा सकते हैं। आज हमारी अर्थव्यवस्था हिचकोले खा रही है और पाँच प्रतिशत की विकास दर भी हासिल करना मुश्किल दिख रहा है। यदि विकास दर को 8-10 प्रतिशत तक पहुंचाना है और एक शक्ति केन्द्र के रूप में भारत को विकसित करना है तो यह लक्ष्य वैश्विक स्तर के शिक्षा केन्द्रों की स्थापना के बगैर पूरा नहीं हो सकता। बगैर आधुनिक शिक्षण संस्थानों के हम प्रतिभाशाली जनशक्ति हासिल नहीं कर सकते। ऐसा नहीं कि हमारे पास यह जनशक्ति नहीं है लेकिन उसे हमेशा कुछ बेहतर करने के लिए हावर्ड, ऑक्सफोर्ड, येल और केब्रिज आदि



विश्वविद्यालयों का रास्ता नापना होता है।

आज हमारे शीर्ष केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में भी डिग्री केन्द्रित शिक्षा अर्जन का काम चल रहा है। आईआईटी और आईआईएम जैसे संस्थान भी मेधावी छात्रों के लिए बस अच्छी नौकरी पाने का जरिया बन गए हैं। हमारे यहां जो मुट्टी भर छात्र रिसर्च कार्यों में संलग्न हैं, वे भी मौका मिलते ही विदेश चले जाते हैं। एसोचैम ने हाल में ही जारी अपनी रिपोर्ट बताया है कि एमबीए और एमसीए की नामी-गिरामी डिग्रियां लेकर संस्थानों से निकलने वाले छात्रों से केवल 10 प्रतिशत ही काम करने के लायक होते हैं। ऐसे डिग्रीधारियों को कैपस से ही ऊंची तनखाह पर हायर करने की जो खबरें आती हैं, वे भी पूरी तरह सच नहीं होती। अमूमन 10 फीसदी लोगों का ही सही सलेक्शन हो पाता है, बाकी या तो बेरोजगार ही रह जाते हैं या फिर कम तनखाह पर काम करने को मजबूर होते हैं। रही बात आईआईटी जैसे संस्थान की तो उसकी चमक भी लगातार फीकी पड़ रही है। दो-तीन साल पहले तक आईआईटी से निकले छात्रों के पास औसतन दो से तीन नौकरियों का प्रस्ताव होता था, जबकि अब आधे से अधिक डिग्रीधारक अच्छी नौकरी के लिए भटकते हैं। आईआईटी की घटती लोकप्रियता और जटिल चयन प्रक्रिया बड़ी चिंता की बात है। कभी इस संस्थान को लेकर अमेरिकी राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार जनरल वेस्ले क्लार्क ने अपने चुनाव प्रचार में कहा था कि जो छात्र आईआईटी से पढ़ाई पूरी कर अमेरिका में आएगा उसे तत्काल अमेरिकी ग्रीनकार्ड दे दिया जाएगा। जाहिर है, अब ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता।

केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय हमारे उच्च शिक्षण संस्थानों की बेहतरी के जो कुछ कर रहा है उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। पिछली पंचवर्षीय योजना में केन्द्र सरकार ने 30 नए केन्द्रीय विश्वविद्यालय, आठ नए आईआईटी, सात नए आईआईएम 37, अन्य तकनीकी संस्थान और जिला स्तर पर 373 नए कॉलेज स्थापित करने के लिए करीब 80 हजार करोड़ रुपये का आवंटन

किया था। 12वीं यानी चालू पंचवर्षीय योजना के आखिर तीन वर्षों एवं 13वीं पंचवर्षीय योजना में 278 नए विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी है। लेकिन पिछली पंचवर्षीय योजना में औपचारिक रूप से शुरू किए गए ज्यादातर संस्थान विश्वस्तरीय नहीं कहे जा सकते और न ही यहां हमारी जमीनी जरूरतों को लेकर कोई शोध ही किया जा रहा है। कई संस्थानों पास तो अपनी बिल्डिंग तक नहीं है।

बीच-बीच में शोध पर ध्यान देने की वकालत करने वाला मानव संसाधन विकास मंत्रालय कितना ध्यान इस पर दे रहा है वह कुछ ही महीने पहले शैक्षिक संस्थानों को जारी उसके इस फरमान से स्पष्ट हो जाता है कि वे इंफ्रास्ट्रक्चर पर खर्च कम करें। इतना ही नहीं, उनसे कहा गया है कि सेमिनार और विदेशी भ्रमणों पर, जो अधिकांशतः रिसर्च पेपर पढ़ने या फिर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में शिरकत लेने के लिए होता है, रोक लगाएं। मंत्रालय संस्थानों को स्वावलंबी बनाने के तर्क देकर यह भूल रहा है कि वैश्विक स्तर पर टॉप 200 शिक्षण संस्थानों में अधिकांश सरकारी पैसे से चलते हैं। हां, यह जरूर है कि कई देशों में ऐसा ढांचा विकसित किया गया है कि निजी कंपनियां भी बगैर किसी तरह के हस्तक्षेप के शिक्षण संस्थानों को पैसे डोनेट करती हैं। मंत्रालय इस तरह का ढांचा विकसित करने की तरफ नहीं, बल्कि सरकारी संस्थानों को कमजोर और निजी संस्थानों को मजबूत करने की दिशा में आगे बढ़ रहा है। विदेशी संस्थानों के भारत आने का भी रास्ता खोला जा रहा है लेकिन सवाल है कि ये विदेशी संस्थान या निजी संस्थान रिसर्च जैसे क्षेत्र में क्यों पैसा लगाना चाहेंगे? वे तो सीधे-सीधे लाभ के लिए काम करेंगे और सभी को मालूम है कि रिसर्च जैसे कार्य में पैसा लगाना उनके लिए लाभप्रद नहीं हो सकता। लेकिन क्या मंत्रालय को भी इसी तर्क पर काम करना चाहिए?

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)





कहीं जागे, तो कहीं सो गए?

● एन.के. सिंह

दतिया जिले के रतनगढ़ मंदिर में आई श्रद्धालुओं की भीड़ में हुई भगदड़ थी, जिसमें 115 लोग मारे गए। इसके अलावा हाल में ही एक और घटना थी, केदारनाथ में हुई प्राकृतिक आपदा, जिसमें हजारों मारे गए। तीनों घटनाओं के चरित्र और राज्य अभिकरणों की भूमिका का विश्लेषण करने से कुछ नए तथ्य सामने आए हैं। तीनों घटनाओं को देखने के बाद जो सबसे खास बात नजर आई, वह यह कि सरकार के अभिकरण अगर पहले से जाग जाएं, तो बड़ी से बड़ी आपदा से बिना जन-हानि के उबरा जा सकता है। दूसरी ओर, अगर राज्य सरकार के अधिकारी निष्क्रिय हैं, तो एक सामान्य-सा मेला भी सैकड़ों जान ले सकता है।

दो दिन पहले से कल दिन तक, 24 घंटे के भीतर दो घटनाएं हुईं, जिनमें राज्य और उसके तंत्र की बड़ी भूमिका अपेक्षित थी। पहला, ओडिशा का समुद्री तूफान, जिसकी गति 62 मीटर प्रति सेकण्ड थी और जिसमें बड़े से बड़े मकान को गिराने की क्षमता थी। दूसरी घटना दतिया जिले के रतनगढ़ मंदिर में आई श्रद्धालुओं की भीड़ में हुई भगदड़ थी, जिसमें 115 लोग मारे गए। इसके अलावा हाल में ही एक और घटना थी, केदारनाथ में हुई प्राकृतिक आपदा, जिसमें हजारों मारे गए। तीनों घटनाओं के चरित्र और राज्य अभिकरणों की भूमिका का विश्लेषण करने से कुछ नए तथ्य सामने आए हैं। तीनों घटनाओं को देखने के बाद जो सबसे खास बात नजर आई, वह यह कि सरकार के अभिकरण अगर पहले से जाग जाएं, तो बड़ी से बड़ी आपदा से बिना जन-हानि के उबरा जा सकता है। दूसरी ओर, अगर राज्य सरकार के अधिकारी निष्क्रिय हैं, तो एक सामान्य-सा मेला भी सैकड़ों जान ले सकता है।

कोई 124 करोड़ वाले भारत जैसे देश में एक या डेढ़ लाख की भीड़ का, जो लगातार संचरण में (मोबाइल) हो, जो उपद्रव करने के मोड में नहीं हो, बल्कि दर्शन के भाव

में आई हो और जो संप्रभु आदेशों को आदतन मानती हो और जिसमें बच्चे या भक्ति भाव से सराबोर बूढ़े और महिलाएं हों, प्रबंधन कोई सामान्य-सा राज्य राज्य सेवा का अधिकारी अपने पुलिस के समक्ष अधिकारी के साथ मिलकर बड़ी ही आसानी से कर सकता है बशर्ते वह जिम्मेदारी और ईमानदारी से अपना काम करे। रतनगढ़ के हादसे में अधिकारियों के दो गुनाह स्पष्ट हैं, वे ना तो जिम्मेदारी निर्वाह रहे थे, ना ही ईमानदार थे। श्रद्धालु पिछले कई दशकों से आ रहे थे। उनकी संख्या अचानक नहीं बढ़ी थी। उनका एक पुल से निकलना कोई असाधारण बात नहीं थी। कुछ भी अप्रत्याशित नहीं था, केवल उस भीड़ को रेगुलेट करना था। कुम्भ में करोड़ों की भीड़ होती है और हर श्रद्धालु एक ही समय में स्नान करना चाहता है, लेकिन चुस्त प्रशासन उसे नियंत्रित और नियमित कर लेता है, लेकिन उसी भीड़ का हजारवां हिस्सा जब उसी जगह से 3 किमी दूर 11 फरवरी को रेलवे स्टेशन पहुंचता है, तो भगदड़ में 36 लोग मारे जाते हैं, क्योंकि जिन पुलिस अधिकारियों को वहां लगाया गया है, वे हर पल भीड़ का जायजा नहीं लेते, स्पॉट पर नहीं होते और होते भी हैं, तो



अपने को उस कार्य के लिए समर्पित नहीं करते।

रतनगढ़ मंदिर का घटना की स्थिति देखें। गाड़ियां पुल से निकालने में पुलिस को अचानक अच्छी आमदनी दिखाई दी। पैदल भीड़ को रोककर गाड़ियां पार कराना शायद सबसे बड़ी भूल थी, लेकिन पैसा बौद्धिक क्षमता को कुंद बना देता है। रिपोर्ट देखने से लगता है कि पुलिस अधिकारी मौके से गायब थे या दूर थे। कर्मचारी पैसा कमाने में लगे थे और कहीं भी 'दिमाग का इस्तेमाल' नहीं था। पैसा और 'दिमाग का इस्तेमाल' में वैसे भी 36 का आंकड़ा होता है। आज जरूरत यह है कि ऐसे हादसों के लिए जिम्मेदार अधिकारियों को आपराधिक दफाओं में जेल भेजा जाए, ताकि भविष्य में अधिकारी या कर्मचारी दिमाग का इस्तेमाल भीड़ नियंत्रण में ही करें। इसके ठीक उल्टा, ओडिशा में तूफान से सामना करने के लिए जिस तरह राष्ट्रीय आपदा एजेंसियों के साथ ही राज्य सरकार ने सक्षम भूमिका निभाई, उसकी न केवल भारत में बल्कि विश्व में तारीफ की जा रही है। आने वाले दिनों में यह प्रबंधन विश्व के लोक प्रशासन की संस्थाओं में चर्चा का विषय रहेगा और इससे दुनिया के देश शिक्षा लेंगे। कटरीना की विभीषिका को लेकर अमरीका असफल रहा था, हालांकि बाद के ऐसे ही हादसों में इस सबक का लाभ उसे मिला और प्रबंधन बेहतर हुआ। ओडिशा के तटीय भाग से लगभग 24 से 36 घंटों के भीतर सैकड़ों मील में फैले सात लाख लोगों को विस्थापित कर नई जगह ले जाना और सुनिश्चित करना कि इन लोगों के भोजन, बीमारी और अन्य सुविधाओं का अभाव न रहे, अपने आप में अविश्वसनीय है।

लोक प्रशासन में भीड़ या आसन्न संकट का इन्तजाम एक विशिष्ट विधा मानी जाती है और इसके प्रबंधन के लिए तमाम सिद्धांत और व्यावहारिक प्रक्रियाएं प्रशासनिक अधिकारियों को पढ़ाई और सिखायी जाती हैं। जैसे-जैसे प्रजातंत्र की जड़ें मजबूत होती हैं, जनमत का दबाव बढ़ता ही नहीं, बल्कि निष्क्रिय सरकारों को काम करने पर मजबूर

भी करता है। यह जनमत का दबाव बनाने में अनौपचारिक संस्थाओं जैसे मीडिया, जन रैली आदि की बड़ी भूमिका होती है। यही वजह थी कि जैसे ही अमरीकी एजेंसियों से खबर आई कि ओडिशा में समुद्री तूफान भीषण तबाही मचा सकता है, मीडिया ने सब काम छोड़कर इसे इतना प्रसारित किया कि सरकारों को आपदा से लड़ने की तैयारी करनी पड़ी।

केदारनाथ की आपदा अप्रत्याशित थी। विकसित देशों में ऐसे उपकरण हैं, जिनसे हमें बादल फटने या भारी बारीश के बारे में जानकारी मिल जाती है। भारत में भी यह उपकरण है, लेकिन राज्य के अधिकरण उन्हें अभी तक आदतन उपयोग में नहीं लाते या अगर रिपोर्ट भेजी भी, तो उसका भाव इतना हल्का होता है कि राज्य सरकारें उन्हें गंभीरता से नहीं लेती हैं। यही कारण था, केदारनाथ में तीर्थयात्रियों का आना रोका नहीं गया। तीन दिनों तक राज्य के अधिकारी और मुख्यमंत्री हादसे का अंदाजा भी नहीं कर पाए। मीडिया की फिर बड़ी भूमिका थी। 24 घंटे बगैर रुके कवरेज का नतीजा था, निष्क्रिय उत्तराखण्ड सरकार नींद से जगी, पर तब तक बहुत देर हो चुकी थी। हाल के कुछ वर्षों में हुई इस तरह की घटनाओं को देखा जाए, तो अधिकांश में सरकारी लापरवाही साफ नजर आती है। उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ में 4 मार्च 2010 को कृपालू महाराज के आश्रम में हुई भगदड़ को एक सामान्य थानेदार या तहसीलदार भी रोक सकता था, बशर्ते अपने दायित्व के प्रति संजीदा होता। ज्यादातर ऐसे हादसों में श्रद्धालुओं की मौत प्रबंधन के अभाव की वजह से ही होती है। इसी माह बिहार के देवघर के आश्रम में भगदड़ में लोगों का मरना यही बताता है कि श्रद्धालुओं की भीड़ जिसे नियंत्रित करना आसान होता है, लेकिन वह सरकारी उदासीनता की भेंट चढ़ती रहेगी। दतिया में हुआ हादसा मध्य प्रदेश के प्रशासन पर बड़ा सवालिया निशान लगाता है।

(साभार : पत्रिका)





आदिवाशियों को मुख्यधारा से जोड़ मिटाएं नक्सलवाद!

● सूर्यकांत नागर



नक्सलवाद के इतिहास में जाएं तो पता चलता है कि वर्ष 1967 में नक्सलवाड़ी गांव के किसानों पर जमींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध स्वतः स्फूर्त विद्रोह से शुरू हुए आंदोलन को सर्वप्रथम चारु मजूमदार ने दिशा दी थी। उन्होंने जमींदारों-जोतकारों को खत्म करने की मुहिम चलाई थी। उनके मुताबिक गुरिल्ला युद्ध ही वर्ग-वैमनस्य से मुक्ति दिला सकता था। बाद में कानू सान्याल, विनोद मिश्रा, असीम चटर्जी, सुब्रत दा जैसे कॉमरेड इस आंदोलन से जुड़े तथा भाकपा माले व उससे संबद्ध पीवीजी (पीपुल्स वॉर ग्रुप) एमसीसी (माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर) और आईपीपी (इंडीयन पीपुल्स फ्रंट) जैसे संगठन सक्रिय हुए।



विगत दिनों महाराष्ट्र के गढ़चिरोली और बिहार के औरंगाबाद में नक्सलियों द्वारा पुलिसकर्मियों सहित कुल ग्यारह लोगों की निर्मम हत्या के समाचार चुनावी माहौल में गुम-से हो गए। सत्ता-लोभ ने मानवीय संवेदना को खारिज कर दिया। इसके पहले छग के सुकमा में कांग्रेसी नेताओं के काफिले पर हमला करते हुए 25 लोगों को मार दिया था। वर्ष 1999-2000 में म.प्र. के परिवहन मंत्री की उनके ही गाँव में गला काटकर हत्या कर दी गई थी। आंध्र के परिवहन मंत्री माधव रेड्डी को बारूदी सुरंग से उड़ा दिया गया था। ऐसी न जाने कितनी वारदाते हैं। जाहिर है, सिलसिला थमा नहीं है। आंतक और भय का माहौल बना हुआ है।

यदि नक्सलवाद के इतिहास में जाएं तो पता चलता

है कि वर्ष 1967 में नक्सलवाड़ी गांव के किसानों पर जमींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध स्वतः स्फूर्त विद्रोह से शुरू हुए आंदोलन को सर्वप्रथम चारु मजूमदार ने दिशा दी थी। उन्होंने जमींदारों-जोतकारों को खत्म करने की मुहिम चलाई थी। उनके मुताबिक गुरिल्ला युद्ध ही वर्ग-वैमनस्य से मुक्ति दिला सकता था। बाद में कानू सान्याल, विनोद मिश्रा, असीम चटर्जी, सुब्रत दा जैसे कॉमरेड इस आंदोलन से जुड़े तथा भाकपा माले व उससे संबद्ध पीवीजी (पीपुल्स वॉर ग्रुप) एमसीसी (माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर) और आईपीपी (इंडीयन पीपुल्स फ्रंट) जैसे संगठन सक्रिय हुए।

नक्सलवादियों का भरोसा संवैधानिक मार्ग अपनाने में नहीं है। वे शीघ्र नतीजा पाने के लिए शास्त्र में नहीं, शस्त्र में विश्वास रखते हैं। वे संसदीय राजनीति का निषेध



चार दशक से अधिक के इस आंदोलन का आखिर हासिल क्या रहा? क्या उसे वह मिला, जिसके लिए हिंसा का रास्ता अख्तियार किया गया। आरंभ से ही विचार और निदान के स्तर पर मतभेद होने लगे थे। कानू सान्याल समेच चारु के पूर्व समर्थक असीम चटर्जी ने ही चारु की मुहिम को चुनौती दी थी। नक्सली गुट बिखरने लगे। नेतृत्व की लड़ाई भी चली। कानू सान्याल को छोड़ किसी सर्वहारा को पार्टी का नेतृत्व नहीं दिया गया।

चाहते हैं। उनके अनुसार वे सत्ता के लिए नहीं, बदलाव के लिए लड़ रहे हैं। मुक्ति चुनाव में नहीं, संग्राम में है। चारु मजूमदार का तो नारा था - 'वर्ग के शत्रु के खून से जो हाथ रंगा नहीं, वह क्रांतिकारी नहीं।' वे यह भूल गए कि मार्क्स जिस वर्ग-चेतना की बात करते थे, वह लंबे संघर्ष से ही संभव है। नक्सली तुरत-फुरत परिणाम चाहते हैं। उन्होंने इतिहास की प्रक्रिया का नजर अंदाज किया। दरअसल नक्सली आंदोलन उन दुर्गम आदिवासी क्षेत्रों में तेजी से पनपा, जहां गरीबी, अशिक्षा और पिछड़ापन है। संसदीय प्रणाली से असंतोष इस हद तक था कि कई जिलों में नक्सलियों ने जन-अदालतें स्थापित की और भ्रष्ट अधिकारियों

को दंडित करने के नाम पर उनके हाथ-पैर तक काट दिए।

चार दशक से अधिक के इस आंदोलन का आखिर हासिल क्या रहा? क्या उसे वह मिला, जिसके लिए हिंसा का रास्ता अख्तियार किया गया। आरंभ से ही विचार और निदान के स्तर पर मतभेद होने लगे थे। कानू सान्याल समेच चारु के पूर्व समर्थक असीम चटर्जी ने ही चारु की मुहिम को चुनौती दी थी। नक्सली गुट बिखरने लगे। नेतृत्व की लड़ाई भी चली। कानू सान्याल को छोड़ किसी सर्वहारा को पार्टी का नेतृत्व नहीं दिया गया। चुनावों में भरोसा न करने वाले कुछ नक्सली नेता बाद में चुनाव लड़े और सफलता भी पाई। रासबिहारी 1999 में चुनाव लड़े और सात वर्ष जेल में बिताने वाले संतोष राणा भी संसदीय राजनीति में आए। उधर बिहारी में विभिन्न गुट एक-दूसरे के खून के प्यासे हो गए। कई बार पुलिसकर्मी नक्सली हमलों से इतने भयभीत रहते हैं कि अंचल की पुलिस चौकियों की बत्तियाँ गुल कर रात में दरवाजे बंद कर लेते हैं।

शासन को समझ लेना चाहिए कि यह केवल कानून-व्यवस्था का मुद्दा नहीं है। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक गैर-बराबरी व शोषण का है। अतः पुलिस फोर्स बढ़ाकर केवल सख्ती से समस्या हल नहीं होगी। जब नक्सली खुद को ग्रामीणों-आदिवासियों का हितैषी बता उनकी सहानुभूति अर्जित कर लेते हैं, तो पुलिस का काम कठिन हो जाता है। अतः जरूरी है कि संबंधित क्षेत्रों में तेजी से आर्थिक-सामाजिक सुधार किए जाएं। शोषित-पीड़ित आदिवासियों को उनका हक मिले। वनोपज में उनका हिस्सा हो। उनके लिए चलाई जाने वाली योजनाएं मात्र कागजी न रहें। तंत्र की भ्रष्टता मिटे। यदि आदिवासियों को मुख्यधारा में लाया जा सका, तो नक्सली आंदोलन स्वतः ठंडा पड़ जाएगा।

(साभार : नव दुनिया)

□ □ □



अल्पसंख्यकों के अधिकार का संरक्षण - भारत में चुनौती एवं समस्या

● सरिता मालवीय

मानव अधिकार के क्षेत्र में अल्पसंख्यकों के संरक्षण की समस्या न कि प्रधान एवं राष्ट्रीय है बल्कि इसका संबंध अंतर्राष्ट्रीय गारंटी से है, जिसके माध्यम द्वारा राष्ट्र को उसके कतिपय समूह को अपने ही देश के प्राधिकारियों के द्वारा विभेदमूलक व्यवहार से इन्हे बचाया गया। अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि ऐसा करना अन्तर्राष्ट्रीय शांति के संरक्षण के लिए आवश्यक है। और एक मूल अधिकारो की तरह ही और उसी से संबंधित मुद्दों का अधिकार है। इसके कई ऐसे अधिकार हैं जिनका संरक्षण प्रदान करना अतिआवश्यक है।

उ | न राज्यों में जहां जातिगत धार्मिक एवं भाषागत अल्पसंख्यक रहते हैं ऐसे अल्पसंख्यकों को उनके समूह के अन्य सदस्य के साथ सामुदायिक अधिकार से अपनी संस्कृति का पालन करने, अपने धर्म का मानने एवं आचरण करने तथा अपनी भाषाओं या बोलियों का प्रयोग करने से वंचित नहीं किया जा सकता है।

मानव अधिकार के क्षेत्र में अल्पसंख्यकों के संरक्षणों की समस्या न कि प्रधान एवं राष्ट्रीय है बल्कि इसका संबंध अंतर्राष्ट्रीय गारंटी से है, जिसके माध्यम द्वारा राष्ट्र को उसके कतिपय समूह को अपने ही देश के प्राधिकारियों के द्वारा विभेदमूलक व्यवहार से इन्हे बचाया गया। अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि ऐसा करना अन्तर्राष्ट्रीय शांति के संरक्षण के लिए आवश्यक है। और एक मूल अधिकारो की तरह ही और उसी से संबंधित मुद्दों का अधिकार है। इसके कई ऐसे अधिकार हैं जिनका संरक्षण प्रदान करना अतिआवश्यक है। इस प्रकार के अधिकारों के संरक्षण की आवश्यकता को बड़ी तीव्रता से महसूस किया गया है, किसी वैचारिक मतभेद या वाद-विवाद के कारण नहीं बल्कि विशेष रूप से पिछले पुराने समय में हिटलर के अंतर्गत नाजी-जर्मनी के अपने भाषायी जातिगत और धार्मिक अल्पसंख्यकों मुख्य रूप से यहूदिया के

साथ पिछले दशक में किए गए व्यवहार के कारण तथा कुछ राज्यों में अल्पसंख्यकों के साथ दुर्व्यवहार करने के कारण और भविष्य में ऐसी दुर्घटनायें दुहराई न जायें तथा ऐसी दुर्घटनाओं से घोर प्रतिक्रिया न हो इसके कारण अल्पसंख्यको को संरक्षण का अधिकार प्रदान किया जाने का प्रावधान किया गया।

अल्पसंख्यकों के संरक्षण के अधिकार को जानने से पूर्व यह सोचा जाना चाहिए आखिर ये “अल्पसंख्यको का संरक्षण” है क्या? इससे संबंधित उपायो में अल्पसंख्यको के साथ हो रहे भेदभाव को रोकने के संबंध में स्पष्ट किया है कि - “गैर प्रभावशाली वर्ग का संरक्षण जिनकी सामान्य अभिलाषा है कि उनके साथ बहुसंख्यक के समान व्यवहार किया जाना चाहिए तथा उनके साथ कुछ सीमा तक अन्तरीय व्यवहार भी किया जाना चाहिए। जिससे वह वर्ग अपनी उन मूल विशेषताओ को सुरक्षित कर सके जो उन्हें बहुसंख्यक से अलग करती है। ऐसा संरक्षण ऐसे समूह के एकाकी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होता है। जो समान संरक्षण की इच्छा या अभिलाषा करता हो।”

अल्पसंख्यकों का अर्थ यह नहीं है “जिनकी सामाजिक लाभों के वितरण और शासन (शक्ति) में अवर स्थिति हो।”



अल्पसंख्यकों को मुख्यतः दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है- पहला, मूल वंशीय अल्पसंख्यक तथा दूसरा सांस्कृतिक अल्पसंख्यक। “मूल वंशीय अल्पसंख्यक से तात्पर्य एक ऐसे समूह से होता है जो प्रधान जैविक, वंशज जिसमें सुस्पष्ट भौतिक संरक्षण निष्पन्न रूप से जुड़े होते हैं कि अर्थों में परिभाषित किया जा सकता है। सांस्कृतिक अल्पसंख्यक से तात्पर्य ऐसे समूह से होता है जिसे प्रधानतया जाति, भाषा, धर्म, ऐतिहासिक जीवन पद्धति एवं राष्ट्रीय मूल के अर्थों में परिभाषित किया जाता है।

अल्पसंख्यकों को संरक्षण:-

मूल वंशीय, धार्मिक एवं भाषागत- “प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात विकास की ओर बढ़ता कोई नया विचार नहीं

आगसबर्ग की संधि 1955, वेस्टफोलिया की शांति संधि 1648, ओलाईवा की संधि 1990, निमेन्जन की संधि, रिज्विक की संधि 1679, कुचुक कैरानी की संधि 1774, विचना की संधि, फाईनल एक्ट ऑफ कांग्रेस ऑफ विचना 1815, पेरिस की संधि 1856 का भी उल्लेख किया जा सकता है। जिसके माध्यम से अल्पसंख्यकों संरक्षण देने की बात कही गई थी।

अल्पसंख्यकों के संरक्षण में नरसंहार (जाति संहार) संबंधी अभिसमय 1948 का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा अभिसमय के अनुसार, “राष्ट्रीय जातीय, मूल वंशीय या धार्मिक समूह को नष्ट करने के आशय से जो कार्य किए जाएंगे वे नरसंहार की परिभाषाओं में आएंगे।” शिक्षा के भेदभाव के विरुद्ध और अल्पसंख्यकों का संरक्षण अभिसमय

मूल वंशीय, धार्मिक एवं भाषागत- “प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात विकास की ओर बढ़ता कोई नया विचार नहीं था। इसी दिशा में अल्पसंख्यकों के अधिकारों का संरक्षण एवं उनका विकास भी कोई नया विचार नहीं था। प्राचीन एवं आधुनिक इतिहास में ऐसे बहुत से अधिकारी आये हैं जब ऐसे अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए बाध्यकारी बचन दिए गए हैं। उन्नीसवीं सदी में संधियों के माध्यम से यह बाध्यताएं स्वीकार करके अल्पसंख्यकों को संरक्षण प्रदान किया गया है।

था। इसी दिशा में अल्पसंख्यकों के अधिकारों का संरक्षण एवं उनका विकास भी कोई नया विचार नहीं था। प्राचीन एवं आधुनिक इतिहास में ऐसे बहुत से अधिकारी आये हैं जब ऐसे अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए बाध्यकारी बचन दिए गए हैं। उन्नीसवीं सदी में संधियों के माध्यम से यह बाध्यताएं स्वीकार करके अल्पसंख्यकों को संरक्षण प्रदान किया गया है।

दृष्टांत के रूप में बर्लिन की 1878 की संधि को लिया जा सकता है। बर्लिन की संधि के अंतर्गत बल्गेरिया, माण्टीनेग्रो, सर्बियान, रोमानिया और तुर्की सभी ने अपने एकदलों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करने की बाध्यता स्वीकार की। उन्हें प्राण एवं सम्पत्ति की रक्षा का भी वचन दिया। इस संबंध में

भी अल्पसंख्यकों की शैक्षिक गतिविधियों को अपनी भाषा में पठन-पाठन के अधिकार को सुनिश्चित करने का प्रयत्न करता है।

गैर भेदभाव का अधिकार:- वर्तमान में प्रसंविदाओं के राज्य पक्षकार यह वचन देते हैं कि वह अपने राज्य क्षेत्र के सभी अधिकारों का सम्मान करेंगे और उन्हें सुनिश्चित करेंगे। इसमें मूल वंश, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म या अन्य विचार, राष्ट्रीय या सामाजिक उद्भव, सम्पत्ति, जन्म या प्रास्थिति के आधार पर कोई विभेद नहीं किया जाएगा। और “विधि के शासन” का भी सार तत्व यही है कि भेदभाव रहित व्यवहार। भेदभाव नीति न कि राज्यों के विभिन्न अंगों द्वारा अपनाई



जाती है। बल्कि गैरसरकारी व्यक्तियों, समूह तथा संस्थाओं के द्वारा भी व्यवहार में लाया जाता है। अतः आवश्यकता इस बात की भी है कि राज्य ऐसा विधान बनाये कि गैर सरकारी व्यक्ति अपने विभिन्न क्रिया कलापो में भेदभाव न करें।

गैर भेदभाव के अधिकार से संबंधित एक सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न जो उठता है कि वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री और पुरुषों की समानता और समान अवसरो की। अतः इस अधिकार के संबंध में एक सबसे कठिन मुद्दा लिंग के आधार पर भेदभाव का निषेध है। लिंग पर आधारित भेदभाव केवल अतीत का अवशेष नहीं है और न ही मात्र ऐतिहासिक एक जिज्ञासा है बल्कि आज भी अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के एक बहुत बड़े भाग में यह प्रचलित है। पुरुष प्रधान समाज उन्हें अब भी आश्रित नारी, अबला नारी, द्वितीय नारी या अन्य नामों से जाना जाता है।

विभेद के निवारण एवं अल्पसंख्यकों के संरक्षणो पर उप आयोग- मानव अधिकार आयोग ने 21 जून 1946 को एक संकल्प पारित कर मूल वंश, धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यकों के विरुद्ध विभेदीकरण के निवारण के संबंध में अध्ययन करने तथा आयोग की सिफारिश करने के लिए “विभेदीकरण निवारण और अल्पसंख्यको के संरक्षण पर उप आयोग” की स्थापना की गई।

उप आयोग में सदस्यो की संख्या 26 होती है जिन्हे आयोग द्वारा उनकी सरकारों की सहमति से, चयन किया जाता है यहां सदस्य व्यक्तिगत है संयम में कार्य करते है न कि अपनी सरकारों के प्रतिनिधि के रूप में। उपआयोग प्रत्येक वर्ष 4 सप्ताह की बैठक करती है। इसके निम्न लिखित चार कार्यकारी समूह होते है-

- मानवअधिकारों के उल्लंघन के परिवादों की समीक्षा करने के लिए,
- दासता की समस्या पर विचार करने के लिए,
- देशी जनसंख्या की समस्याओ पर विचार करने के लिए,
- अल्पसंख्यक पर कार्य समूह।

यह उप आयोग कई क्षेत्रो जैसे शिक्षा में विभेद, नियोजन और व्यवसायों में विभेद, धार्मिक अधिकारों एवं प्रयासों के

मामलों में विभेद, राजनैतिक अधिकारों के मामलों में विभेद, वैवाहिक जीवन से उत्पन्न व्यक्तियों के विरुद्ध विभेद, न्याय प्रशासक में समानता और राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में जातीय विभेद के ठोस पहलुओं का अध्ययन कर रहा है।

इस आयोग के अंतर्गत वर्ष 2002 में सामाजिक फोरम से सम्पूर्ण विश्व में निर्धनता एवं दीनहीनता की स्थितियों पर कार्यवाही करने के लिए अपना कार्य प्रारंभ कर देगा। यह फोरम न्यायायिक प्रकृति मानकों एवं दिशा निर्देशों का प्रस्ताव करेगा और अन्य सुसंगत संयुक्त राष्ट्र निकायों पर विचार करने के लिए अनुसंशा करेगा और मुख्य विश्व सम्मेलनों एवं सहस्राब्दी सम्मेलन में किए गए करारों पर कार्यवाही करेगा। इसके प्रथम सत्र में निर्धनता में कमी तथा भोजन के अधिकार की प्राप्ति के बीच संबंधों पर बहस होगी।

मानव अधिकारों के संबंध में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की भूमिका:-

अल्पसंख्यकों के संरक्षण प्रदान करने की संकल्पना के और आगे बढ़ते हुए भारतीय संसद ने 1992 में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम 1992 पारित किया।

यह आयोग एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष तथा पांच सदस्यों से गठित होता है। ऐसे सदस्य (जिनमें उपाध्यक्ष भी सम्मिलित है) प्रख्यात क्षमतावाद व निष्ठावाद व्यक्ति होते हैं। जिन्हे केन्द्र सरकार निर्दिष्ट करती है (धारा 3)। अध्यक्ष और सदस्यों का कार्यकाल तीन वर्ष होता है (धारा 4)। आयोग के निम्नलिखित कार्यों में से सभी को या किसी को संपर्क कर सकेगा।

- केन्द्र या राज्य के अधीन अल्पसंख्यकों के विकास के संबंध में प्रगति का मूल्यांकन करना,
- संविधान और संसद एवं राज्य विधान मंडलों के द्वारा निर्मित विधियों द्वारा उपबंधित रक्षोपाय के क्रिया चक्र का नियंत्रण करना,
- केन्द्र या राज्य सरकार के द्वारा अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण के लिए रक्षोपायों के प्रभावी रूप से लागू किए जाने हेतु अनुशंसा करना,
- अल्पसंख्यकों के अधिकारों और रक्षा उपायों से



वंचितिकरण संबंधित विशिष्ट परिवादों को देखना तथा ऐसे मामलों को सक्षम अधिकारियों के समक्ष उठाना,

- अल्पसंख्यकों के विरुद्ध विभेद से उत्पन्न समस्याओं के बारे में विशेष अध्ययन करना तथा उनके निराकरण हेतु उपाय सुझाना,
- अल्पसंख्यकों के आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक विकास संबंधित मामलों पर अध्ययन शोध और विश्लेषण करना,
- किसी भी अल्पसंख्यक के बारे में केन्द्र सरकार या राज्य सरकार द्वारा किये जाने वाले समुचित उपायों के बारे में सुझाव देना,
- अल्पसंख्यकों से संबंधित किसी मामले पर और विशेषतः उनके द्वारा सामना की जा रही कठिनाइयों के बारे में सामयिक तथा विशेष रिपोर्ट केन्द्र सरकार को प्रेषित करना,
- कोई अन्य मामला जो केन्द्र सरकार द्वारा उसे विनिर्दिष्ट किया जाए।

आयोग ऐसे प्रारूप में और ऐसे समय में जो विहित किया जाए, प्रत्येक वित्तीय वर्ष के लिए अपनी वार्षिकी रिपोर्ट केन्द्र सरकार को यथाशीघ्र प्रस्तुत करेगा।

अल्पसंख्यकों के अधिकार एवं उनकी समस्याएँ:-

गैर मूल अधिकार क्षेत्र में, एलाईस जैवक के अनुसार अल्पसंख्यकों के तीन समस्या क्षेत्र हैं-

- अपनी मातृ भाषा में शिक्षण का अधिकार,
- शासकीय प्रायोजनों के लिए अल्पसंख्यकों की भाषा का प्रयोग,
- राज्य सेवाओं में अल्पसंख्यकों की नियुक्ति।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 29 व 30 को संयुक्त रूप से पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि अल्पसंख्यक अपनी शिक्षण संस्था की स्थापना करते हैं तो वह चाहे तो शिक्षण का काम अपनी मातृ भाषा में कर सकते हैं किन्तु वह उनके स्तर तक है। वह चाहे तो शिक्षण का कार्य मातृ भाषा में कर सकते हैं पर केवल उनके स्तर तक ही। कई राज्यों के

शिक्षा मंत्रियों का 1949 में हुए सम्मेलन में यह अनुशंसा की गई कि यदि किसी विद्यालय में चालीस विद्यार्थी या किसी एक दर्जे में कम से कम दस विद्यार्थी हों तो प्राथमिक स्तर पर शिक्षण कार्य मातृ भाषा में किया जा सकता है जिसे केन्द्र सरकार द्वारा स्वीकृत कर लिया गया।

राज्य पुर्नगठन आयोग की संस्तुति के अनुसार संविधान में अनुच्छेद 350-क व अनु0 350-ख जोड़े गए। संविधान के अनुच्छेद 350-ख के अनुसार भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए एक आयुक्त की स्थापना की गई है तथा यह आयुक्त दोनों सदनों में वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा। क्षेत्रीय परिषदों को यह सौंपा गया है कि वे इस मामलों को साझा नीति विकसित कर सकता है। सहकारी प्रायोजन के लिए अल्पसंख्यक भाषा का प्रयोग के संबंध में संविधान अनुच्छेद 345 प्रासंगिक है। इसके अनुसार अनु 346 व अनु 347 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए किसी राज्य का विधान मण्डल विधि द्वारा, उस राज्य में प्रयोग होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक भाषाओं के या हिन्दी को उस राज्य के सभी या किन्हीं शासकीय प्रायोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषाओं के रूप अंगीकार कर सकेगी।

जैसे आंध्र प्रदेश सरकार ने उर्दू को कतिपय प्रायोजनों के लिए वहां इसे राज्य भाषा के रूप में अंगीकार किया है। अनु 347 में इन प्रावधानों का उल्लेख किया गया है। वर्ष 1961 में क्षेत्रीय परिषदों एवं मुख्यमंत्रियों के सम्मेलनों में निम्नलिखित पर सहमति हुई थी।

- शासकीय प्रायोजनों के लिए राज्य शासकीय भाषा या भाषाओं का प्रयोग होना चाहिए, किन्तु उन मामलों में जिनमें व्यापक प्रसार किया जाना है या कोई शासकीय मामला, भाषायी अल्पसंख्यकों को संसूचित किया जाना है तो शासकीय भाषा के अतिरिक्त अल्पसंख्यकों की भाषा प्रयोग किया जाना चाहिए।
- अल्पसंख्यकों से उनकी भाषा में याचिकाएं, आवेदन और अभ्यावेदन स्वीकार किए जाने चाहिए।
- जिन जिलों में अल्पसंख्यक की आबादी 50 से 20 प्रतिशत है वहां महत्वपूर्ण विधियों नियमों आदि का अनुवाद प्रकाशन के लिए अल्पसंख्यकों की भाषा में होना चाहिए।



- जहां किसी राज्य के लिए जिले में 60 प्रतिशत आबादी शासकीय भाषा से भिन्न बोलती है या प्रयोग करती है वहां उस जिले में उस समूह का भाषा को शासकीय कार्यों के रूप में शासकीय भाषा के अतिरिक्त भाषा को मायना मिलना चाहिए।

धार्मिक एवं भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए लोकसेवाओं में आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं लोक सेवाएं संविधान के अनुच्छेद 16 से विनियमित होती है। जिनके उपबंध सभी पर समान रूप से लागू होते हैं। अनु.16(1) के अनुसार राज्य के अधीन किसी भी नियोजन या पद के संबंध में केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्म स्थान या निवास या इनमें से किसी भी आधार पर न तो कोई नागरिक अयोग्य होगा और न उससे विभेद किया जाएगा।

भारत एक पंथ निरपेक्ष देश है जिसका सबसे बड़ा श्रेय बहुसंख्यक हिन्दुओं को जाता है। जिन्होंने गांधी, नेहरू और पटेल की अगुआई में यह रास्ता चुना और आज भी उस पर कायम है अन्यथा 1947 में जब आजादी के साथ देश का बंटवारा हुआ था और मुस्लिमों को अपना “ पाकिस्तान “ प्राप्त हो गया। तो यदि बहुसंख्यक हिन्दु चाहते थे यह हिन्दू राष्ट्र हो गया होता। इस पंथ निरपेक्ष देश में अल्पसंख्यकों को वही अधिकार प्राप्त हैं जो बहुसंख्यकों को उनसे किसी भी मामले में भेदभाव नहीं बल्कि अल्पसंख्यकों के लिए संविधान में विशेष प्रावधान भी किए गए हैं, ताकि वे अपनी मातृ भाषा, संस्कृति, लिपि और धर्म को न केवल सुरक्षित रख सकें बल्कि स्वतंत्रता पूर्वक उनका उपयोग भी कर सकें। परन्तु यह प्रश्न उठना तो जायज है कि जो विशेष अधिकार एवं संरक्षण उन्हें दिया गया है। वह बहुसंख्यक समाज को नहीं मिले हुए है। और यह भारतीय समाज के लिए सराहनीय बात है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी यहां कहीं पर भी अल्पसंख्यक समाज है वहां पर सभी जगह पर अल्पसंख्यक समाज को बहुसंख्यकों समाज के बराबर या उनके कम अधिकार प्रदान किये जाने चाहिए तो यह प्रश्न नहीं उठता है कि उन्हें बहुसंख्यकों से ज्यादा कार्य के अधिकार दिए जाए परन्तु जैसा कि हमने उपरोक्त पढ़ा, भारत में अल्पसंख्यकों को वे अधिकार प्राप्त हैं जो बहुसंख्यकों को भी प्राप्त नहीं है।

इतना होने के बाद भी अल्पसंख्यक समाज आज भी



अल्पसंख्यक समाज आज भी बहुत पिछड़ा हुआ है, वह देश की मुख्य धारा से उतना नहीं जुड़ा है, जितना उसे होना चाहिए और यही उसकी दुर्दशा का प्रमुख कारण है। यह केवल अल्पसंख्यक समाज का दायित्व नहीं है कि वह ऐसा कोई काम न करे कि अल्पसंख्यकों को मन में असुरक्षा की भावना पनपे, उतना ही दायित्व अल्पसंख्यक समाज का भी है कि बहुसंख्यक समाज के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चले।



बहुत पिछड़ा हुआ है, वह देश की मुख्य धारा से उतना नहीं जुड़ा है, जितना उसे होना चाहिए और यही उसकी दुर्दशा का प्रमुख कारण है। यह केवल अल्पसंख्यक समाज का दायित्व नहीं है कि वह ऐसा कोई काम न करे कि अल्पसंख्यकों को मन में असुरक्षा की भावना पनपे, उतना ही दायित्व अल्पसंख्यक समाज का भी है कि बहुसंख्यक समाज के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चले। न ही वोट की राजनीति के कारण, ऐसे नेताओं के बहकावे में न आये जो केवल अपने स्वार्थ की रोटी इनके ऊपर सँकते हैं और उन्हें अल्पसंख्यकों के हित की कोई चिन्ता नहीं है। यही उनकी सुरक्षा की सबसे बड़ी गारंटी है।

अतः जब भारत के सामने अल्पसंख्यकों के संरक्षण की जिम्मेदारी एक चुनौती के रूप में आई और इसमें सफल होने के लिए सरकार को कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। फिर भी भारत देश जहां पर हिन्दुओं की संख्या बहुसंख्यक थी। सभी समुदायों को समान रूप से सम्मान दिया तथा संविधान में उन्हें स्वयं से ज्यादा अधिकार प्रदान किए। जो सम्पूर्ण विश्व में सराहनीय था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए कई प्रयास किए। जिसमें कुछ हद तक सफलता भी प्राप्त की है। यह सफलता तभी पूर्ण होगी जब कुछ प्रयास स्वयं अल्पसंख्यकों के द्वारा किया जाएगा।

(लेखिका बरकतउल्ला विश्वविद्यालय में शोधार्थी हैं।)





A Rights-Based Approach to Education for All

● ALBY JOSEPH

Starting 19th Century different scholars have advocated various different approaches which a government can adopt to stoke development in its country. Various approaches to development include the welfare model, the trickle down approach, bottom up development, the Keynesian model of development, the neo-liberalist approach, the human rights based approach etc. The human rights based approach to development (HRBA) is the most modern approach and has gained immense popularity and support lately in the international community. The author has discussed the implementation and consequences of this rights-based approach in the Indian context. Special focus has been provided on the statutory right entitling citizens of India the right to education.

The Indian government has in the past 10 years brought in new statutes such as the Right to Education Act 2009, the National Rural Employment Guarantee Act 2005 and the Food Security Bill 2011 (which is still pending parliamentary approval). But does just legally entitling citizens to basic rights such as education actually lead to development of the masses? Or are there gaping loopholes through which the benefits leak through? What steps can be taken to remedy the situation? These are some of the questions I have dealt with in the course of this paper.

The Rights-based approach (RBA) to development puts the man and his rights at

the centre of development. Development is centered on the aim of fulfillment of the human rights. In this way the RBA differs from the traditional development thinking in which prosperity is measured in only economic terms. However, as traditional models of development failed to resolve global injustices and eradicate global poverty, this thinking was 'exposed as a myth'. RBA was a kind of revolutionary approach in the aftermath of the Second World War and took birth from the 1948 Universal Declaration of Human Rights. It became stronger through other various International human rights treaties like Universal Declaration on the Eradication of Hunger and Malnutrition, 1974; International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights, 1976 etc. For the first time there was recognition of society's obligations to respond to the inalienable rights of individuals, who were empowered to demand justice as a right, and not as charity. But it is much easier to have human rights in policies and statutes than it is to implement it in practice. There are many and varied problems in moving on to rights based approach. Some of these are weak political and legal institutions, lack of human rights awareness, economic constraints and time constraints. However, this does not mean that RBA is bound to fail. What it means is that to overcome these obstacles, the initial stages of RBA implementation will require extra effort in strengthening of participating institutions, putting in flexible but accountable



time constraints and large scale investments and more of that.

Scene in India

Fulfilling human rights requires States to take appropriate legislative, administrative, budgetary, judicial and other measures towards the full realization of such rights. The Indian government has in the past 10 years brought in new statutes such as the Right to Education Act 2009, the National Rural Employment Guarantee Act 2005 and the Food Security Bill 2011 (which is still pending parliamentary approval). Massive fund allocations have been made, by the public exchequer, to achieve the targets of these big-ticket legislations. While the central and state governments would want to make us believe that these legal entitlements have been properly implemented, but a basic ground level research would expose the fallacy of government's claims. Every five year, before the elections, we witness the government hogwash the Indian citizenry with tall claims, be it the 'India Shining' of 2004; or the 'Jai Ho' campaign of 2009, or still, the 'Bharat Nirman' of 2014 etc. In being fair to the state, the author admits the difficulties of administering and effectively implementing a rights-based approach over a country as vast as ours; nor is it fair for the citizenry to be expecting immediate results. But what the government surely ought to do is ensure that the money spent is put to good use and reaches the intended beneficiary. The Indian Public Distribution System (PDS) is known for its notorious leakages. The grains meant to be distributed among the poor rather find a way into the markets. In my opinion any form of corruption is incompatible with the rights-

based approach to development, and will obstruct its effective implementation. This is because under such a scenario the rights of individuals get subordinated to the interests of the few. Also my other major concern regarding the Indian RBA scene is the administration's emphasis on quantity over quality. What matters is number of new schools opened, not the standard of education provided in those schools; or how many tonnes of grains were distributed through the PDS, but not whether the grains are fresh and worth consumption. Along with expanding the scope of these welfare schemes, equal emphasis needs to be given to the quality of the services rendered. The RTE, MNREGA as well as the National Food Security Act (NFSA) are the pet programmes of the United Progressive Alliance government, which, in my opinion, though well intended have left a lot to be desired. In this paper I will focus only on Right to Education and its implementation in India.

Right to Education

For a country with as massive a population as India, majority of which is under the age of 25 years, it becomes imperative that the country uses this "demographic dividend" to its advantage. The so called "demographic dividend" can be fully utilized only if proper education and skills are imparted to them. This demands the formulation and proper implementation of a national policy, which legally recognizes the right of citizens to have access to education and other skill development programmes. The opportunity cost incurred as a result of any delay in setting up such a system is massive and will obstruct and impede the rise of India as a major global



force.

Internationally various declarations and summits have recognized the 'Right to Education' as a fundamental human right. Article 26 of the 1948, Universal Declaration of Human Rights, clearly obligates the state to provide its citizens with free education, at least in the elementary level. Article 13 of the International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights (ICESCR) reiterates the state's obligation to develop a system of schools at different levels. Article 4 of the Convention against Discrimination in Education, has pretty much the same text as that of Article 13 of ICESCR.

Rights Activists in India had been campaigning for many years, urging the government to recognize the right to education. In the year 2002, The Constitution (Eighty-sixth Amendment) Act was enacted by the Indian Parliament. This amendment provided for insertion of article 21A in the constitution, by which it was made obligatory for the state to provide for free and compulsory education to all children of the age six to fourteen years. This amendment envisaged a consequential legislation stating the modalities and intricacies of such a novel and innovative step. The Right of Children to Free and Compulsory Education Act was passed in 2009, to fulfill this requirement of legislative direction. This right made education a fundamental right of children and put the onus of providing education on the shoulders of the appropriate government. With this piece of legislation a new ray of hope shone for the millions of children in India who did not, or rather could not, attend the schools. Human rights activists were filled with hope as they felt that this move had the potential to change

the lives of innumerable children. Even a basic level of education could help brighten the future prospects of these underprivileged children.

The Right to Education (RTE) stipulated three years to ensure the fulfillment of the majority of its milestones, which terminated on 1 April 2013. The nation failed to deliver on the historic promise made to ensure that every child in the country has a school of acceptable quality. It has been more than three years since the Act was passed, but whether it has been able to achieve its conceived objectives is rather a debatable question. It aimed at, among other things, providing free and compulsory education to every child, improving school infrastructure, rational deployment of teachers, appointing adequately trained teachers, prohibition of physical punishment etc. Just a basic study of the ground realities shows the true state of the Indian education system. The standards of Government schools are so deplorable that underprivileged children find it more fruitful to engage in menial jobs than to attend these 'namesake' schools. Each of us has witnessed instances of children of school-going age, employed at the local mechanic shop, eateries, railway station etc. A large percentage of children in India are those who suffer from such extreme levels of poverty that school seems like an unnatural proposal to them. I'm not sure about how many families in the rural areas of Jharkhand and Chhattisgarh would even know about this act. Thus, the current state of Indian education system is definitely gloomy. In my view the RTE Act has been a disappointment and has failed miserably in its pursuit of empowering children. I have a rather pessimist opinion



about the achievements of RTE as well as its future, and feel that the citizens have been miserably let down by it. The ground realities suggest that the RTE Act is definitely not a reality but just a myth propagated by the government to cover up its failures.

The state has the obligation to provide its citizens with meaningful education. Only the government schools can endeavor to provide education to the illiterate and economically poor masses. The government schools-which are responsible for the education of more than 73% of the school-going children suffer from some integral problems that refuse to let the RTE Act improve education system. The government schools are in such a bad condition that it is almost impossible for them to provide meaningful education to its students. The government schools are plagued with multiple short-comings, the most glaring of which I will describe and critique here. All of these short comings have combined to help Indian government schools attain world infamy.

Issues plaguing the Education System in India:

1) Infrastructure: Firstly, the government schools are caught short of the basic infrastructural requirements envisaged under the act. 95.2% of schools are not compliant with complete set of RTE infrastructure indicators. Students do not have sufficient number of classrooms. 40% of primary schools have a classroom student ratio higher than 1:30. Students of different standards are cramped into the same classrooms. Many of the government schools do not have supply of clean drinking water neither do they have proper sanitation

facilities. In many schools girls are forced to use common toilet facilities, if at all the school has these “facilities”. In fact forty percent of the schools do not even have a common functional toilet and another forty percent of the schools do not have separate toilet for girls. This means that in only twenty percent of the government schools do girls have a separate toilet arrangement. Such kind of inadequate facilities compromises the safety of girls in schools, further dissuading their family members from sending them to schools. Sixty percent of the schools are not electrified. The plight of children in such settings is easily imaginable, especially in the scorching summers. Even though the act aims for “all round development” of children, availability of a playground is a rarity in the schools. Another important objective of RTE is to increase access to the disabled children. But the draft report filed by RTE forum shows that half the schools even lack a ramp for access by the disabled. In fact we see that access to disabled is hindered even in the private commercial schools, and not just in government schools. Such kind of infrastructure shortcomings consigns the “access to disabled” part of RTE Act just to the statute books.

2) Quality of Teaching Faculty: The quality of teachers in government schools is also questionable. The draft report filed by RTE forum reveals shocking figures. 93% of teacher candidates failed the National Teacher Eligibility Test conducted by CBSE. 6.7 lakh teachers are professionally unqualified and untrained. Also, 36% of all sanctioned teaching posts are vacant. Such kind of unprofessional teaching staff is a major cause for the failure of the act. Common



sense tells that such kinds of teachers are definitely not going to be of much help to the students. To add to the woes is the problem of absenteeism and corruption in the teacher recruiting process. The RTE Act has tried, and achieved limited success, in countering the problem of absenteeism. In Section 24(1) of RTE Act it states that teachers have to compulsorily maintain regularity and punctuality in school. Section 25(2) prohibits deployment of teachers for any non educational purposes except the “decennial population census, disaster relief duties or duties relating to elections to the local authority or the state legislatures or the Parliament, as the case maybe”. Also Section 28 of the act prohibits teachers from engaging in private tuition or private teaching activity. All these provisions have achieved limited success though there is much scope for stronger enforcement of these provisions. But corruption in the teacher recruitment process continues unabated. The recent teacher recruitment scam involving former Haryana Chief Minister OP Chautala is just a case in point. The court convicted Chautala and 54 others in the case of illegal recruitment of 3,206 junior basic trained teachers, and held Chautala as the “main conspirator”. Also corruption is widespread in the mid-day meal scheme, launched by the government to attract students to schools. The quality as well as quantity of this “nutritional support” is questionable. There have been quite a few instances where dead animal bodies have been found in these food servings. Also a significant portion of food grains sanctioned for this flagship scheme is siphoned off and sold in the open market and children are forced to make do with the meager quantities

that they get in the name of proper nourishment. What it shows is corruption spread across the rank and file, from the politicians and IAS officers to the ordinary school peon. Strict deterrent measures have to be urgently taken to protect the credibility and effectiveness of schools. Also the existing teachers should be provided with periodic training so that they can adapt to the changing needs of the present world. With the kind of teaching staff we have presently, the objectives of RTE Act remains a distant future.

3) Corporal Punishment: The RTE Act also prohibits corporal punishment. But it is common knowledge that any average mischievous kid who goes to school, has at some point or other faced physical punishment, be it in the form of a slap or cane beatings. In fact 99.86% of children report to have faced some kind of physical punishment in school. Periodically, the ugly face of this practice reveals itself when the newspapers cover a case of brutal beating or, even worse forms of torture. There was this case in Kolkata where a child was made to drink her own urine as a punishment for bed-wetting. Another horrifying case was reported from M.P where a class IV student was beaten to his death just because he broke a bucket belonging to the school authorities. Thousands of such cases go unreported every year. Such kind of punishment/torture acts as a strict deterrent to kids voluntarily wanting to go to schools. Also such kind of torture so early in their life could easily adversely affect the mental state of kids. Under such circumstances parents are anxious about the safety of their kids and keep their kids away from school. It is



essential to make the students comfortable in schools, and for that to happen such kind of mental torture has to go.

4) Charging of Capitation Fee: Section 13 of the RTE Act disallows the schools from collecting any capitation fee or subjecting the kids to any kind of screening process. But Indian schools still, out rightly, go in for both of these. Most of the quality schools have strident admission tests for kids, and the deep-pocket parents have the option of by-passing such procedures by giving donations or granting other allurements to the school authorities. Capitation fee is also a regular feature in the fee structure of most schools, though under different titles. In a case reported in national media on October 9th, 2012, a parent from a Mumbai school filed an FIR against the school for charging capitation fee. The parent alleged the school charges building fund, book money etc. Such kind of cases just highlights what everyone knows to be true i.e. schools do blatantly charge capitation fee and still go scot free.

5) Lack of Quality Schools : Shortage of seats in schools providing quality education is another major obstacle in the progress of RTE. The number of aspirants far outnumbers the number of seats available. Under such demand-supply mismatch the most disadvantaged people often belong to the under-privileged sections of the society. Parents are forced to adopt unethical practices to secure admissions in premium institutions. Parents having that extra dime often get the seats by providing the allurement of donation. Such a situation results in status quo in the society, where people belonging to poorer sections do not have any chance of coming up the social

ladder. By denying quality education to kids from poor families, the society takes away from them one of their most potent weapon in a world based on exploitation. In an investigation undertaken by the news channel IBN7, it was exposed that nursery seats are on sale well before the admission session in the national capital. The investigation had exposed that as much as Rs. 2-3 Lakh was being charged for each nursery seat. What is even more shocking is the fact that seats for poor kids were being sold for lakhs of rupees and the Delhi government had said that it cannot do much. Such kind of hand-washing by the government does not cut much ice. If the government truly cares for these kids, then it is imperative for them to increase the number of quality schools, so that every child born in our country, in reality, has education as an inalienable and fundamental right.

Also some of the provisions of RTE are out rightly retrogressive. For example the provision which makes it mandatory for the teachers to pass the students in every class up till 8th class just lowers the quality of students that the primary school delivers. Also it results in increasing laxity on the part of teachers, aggravating the impact of this provision. Section 16 of the RTE Act spells out the need for compulsorily passing a child up until completing his/her elementary education. In such a situation of guaranteed success hoping that children will strive for excellence is living in a utopian world. Do you think that David would actually go-through the pain of even lifting and flinging the stone towards Goliath, if he was assured of his victory? In many a cases it is the fear of failure that propels you through the steps of success.



This poor level of education imparted at primary levels widens the bridge between the private school students and government school students at higher levels of education.

Only government schools can aim to provide education to the masses, as Private players only enter with profit- motive and they won't be ready to enter into the hinterlands of rural India. But with the government school system in such a bad shape, the future of the millions of Indian children is in dark, unless the government takes some urgent and purposeful action.

Education should obviously be interpreted as 'meaningful education'. Through the course of my research I read a concept developed by the former UN Special Rapporteur on the Right to Education, Katarina Tomasevski, and many experts feel that it is one of the best ways to assess the meaningfulness of the education provided. He developed the concept of 4As- Availability, Accessibility, Acceptability and Adaptability. The 4 As are to be respected, protected and fulfilled by the government, as the prime duty-bearer, but there are also duties on other actors in the education process: the child as the privileged subject of the right to education and the bearer of the duty to comply with compulsory-education requirements; the child's parents who are the 'first educators'; and professional educators, namely teachers. By using a participatory process this framework of the 4 As can become a tool to enable people to think through what the right to education means to them, and compare their current reality to this ideal context.

Positive steps taken to ensure inclusion of the most marginalized groups are present but are at a minimal level. Reserving 25% seats in schools for economically weaker classes, is a step in the right direction. But many more such steps need to be taken and implemented to ensure that education is accessible to even the most marginalized groups. Right to Education is still a myth in India and needs urgent overhauls and improvements in order to become a reality. The logical question that follows is how do we improve the system? The first thing government needs to do is increase the allocation for education system in the budget, and then oversee that this fund is put to good use and does not end in the pockets of officials. Funds are desperately needed for various purposes such as providing a reasonable infrastructure in schools, train teachers, fill the vacant teacher seats, exposure trips for students etc. I feel that once the standard of schools improves then the next step should be to make education compulsory for every child. If a child is not enrolled in any school then his parents should be held culpable. Only in this way can we ensure 100% literacy in our society. After few years parents themselves would understand the benefits of education and start voluntarily sending their kids to school. The initial compulsion is only to give a start-up to the skeptics. This way we can ensure a better future for our children, which in-turn would automatically result in a prosperous and bright future for our country, India.

*Writer is student of
NALSAR University of Law*





EFFECT OF TRIP'S AGREEMENT ON INDIAN PATENT SYSTEM

● Sarita Malviya

Modern world is marked by Globalization and Liberalization. Therefore we see economic reforms have been introduced by many countries like India which has to compete with other countries in the world market. Patent law plays a very significant role in the development of a country. More so because of the advent of the World Trade Organization in which India has to compete with developed countries like U.S.A. The Paris convention for the protection of industrial property, 1883 was the first convention for the protection of Intellectual Property.

We know that India was not a member of Paris convention, but it having signed the TRIPS agreement, India is now obliged to recognize and implement the provision of “national treatment to nationals of other members” as has been incorporated in the TRIPS agreement. The law of patents has also become an important discipline of international trade and commerce due to great advancement in science and technology, revolutionary changes in computer software development and with the shift from process to product patent, the patent law has been striving to keep pace with the changes in technology. The importance of the subject has grown due to lack of adequate legal literature. The Indian patent system has been modeled on British system to a great extent and the system of the U.S.A to some extent.

Meaning and Object of Patent a patent is a set of exclusive rights granted by a state to an inventor or his assign need for a fixed period of time in exchange for the disclosure of the invention. It refers to a grant of some privilege, property, or authority made by a government or the sovereign of the country to one or more individuals. The instrument by which it made is known as Patent. An invention is the creation of intellect applied to capital and labour to produce something new and useful. Such creation becomes the exclusive property of the inventor on the grant of patent. The procedure for granting patent, the requirements placed on the patentee and the extent of exclusive rights vary between countries according to the national laws and international agreements.



Rights enjoyable without discrimination as to place of invention, the field of technology and whether products are imported or locally produced. It also provides protection of plant varieties either by patents or by an effective sui generis system or by combination thereof. The Amendment Act, 1999 by inserting sub section (2) in section 5 of the Patents Act made provisions for grant of patents in respect of an invention for substance itself intended for use, capable of being used as medicine or drug except the medicine or drug specified under sub clause (v) of clause (l) of sub section (1) of section 2 of the Act. It, therefore implies that the entire industrial and agricultural sector and to an extent bio technological sector shall be covered under patent provision. These provisions intend to establish monopoly of foreign traders in India. The prices of drugs in India might increase which will deprive the poor and downtrodden from buying drugs.

India is a developing country, the developed countries who led the world market have made tremendous researches and developments in the field of science including biotechnology. The products of MNC's require market which India has provided through patent mechanism of product patent in medicines and drug exclusive marketing rights (EMRs). Thus it would not be incorrect to say that the developed countries may use the agreement as a tool to exploit the developing nations.

The agreement on Trade Related aspects of Intellectual Property rights (TRIP's) is an international agreement administered by the world trade organization

that sets down minimum standards for many forms of intellectual property regulation as applied to national of world trade organization members. It was negotiated at the end of the URUGUAY round of the general agreement on tariffs and trade (GATT) in 1994.

The Patent (Amendment) Act, 1999 has inserted a new chapter IV A in the containing Sections 24A to 24F which provides for exclusive marketing rights (EMRs). The EMR enables an applicant for grant of a patent to distribute and market his product in India from the date of filing the application for grant of patent without going through the procedure laid down in the Patent Act for grant of a patent. The EMR can be granted before the grant of patent in the country where the research has its origin. In such a case, the government of India would not be in a position to insist on production of the article, which is subject matter of application, in India during the existence of EMR. The person in whose favor the EMR is granted would have a right to distribute and market the product by importing the same from any other country. Therefore, the import of any article and its sale in India may be at high and prohibitive prices. In this way the fixation of prices for the patented product manufactured in India or imported from abroad in India is left to the discretion of the right holder. An EMR may be granted even if an article is not entitled to be patented. The grant of EMR is sure to have adverse effects on the Indian economy.

The Patents (Amendment) Act, 2005 introduces pharmaceutical product patents in India for the first time. This Act attempts to



balance out competing interests of a variety of stakeholders, including domestic generic medicine producers, foreign multinational pharmaceutical companies and civil society groups concerned with access to medicines. Although this dexterous maneuvering around competing interests deserves praise, the net result of such a compromise has been a lack of clarity in the law.

The TRIPS agreement introduced intellectual property law into the international trading system for the first time and remains the most comprehensive international agreement on intellectual property to date. In 2001 Developing countries, concerned that developed countries were insisting on overly narrow reading of TRIP's, initiated a round of talks that resulted in DOHA DECLARATION. The Doha declaration is a WTO statement that clarified the scope of TRIPS.

Specifically TRIPS contains requirements that nation laws must meet for copyright right, including the rights of performers, producer of sound recordings and broadcasting organizations, geographical indication, industrial designs, patent, monopolies for the developers of new plants varieties, trademarks, trade dress. TRIP's also specified enforcement procedure, remedies and dispute resolution procedures.

Protection and enforcement of all intellectual property rights shall meet the objectives to contribute to the promotion of technological innovation and to the transfer and dissemination of technology, to the mutual advantage of producers and users of technological knowledge and in the manner

conductive, to social economic welfare and balance to right and obligations.

Some important characteristics of patent on international level by WHO:-

1. Paris Convention is a key of international convention relating to patents is the Paris convention for the protection of industrial property, initially signed in 1883. The Paris convention sets out a range of basic rules relating to patents, and although the convention does have direct legal effect in all national jurisdictions, the principles of the convention are incorporated into all notable current patent system. The most significant aspect of this convention is the provision of the right to claim priority i.e., filing an application in any one member state, and receive the benefits of the original filing date. Because the reference to a patent is intensely date driven, this right is fundamental to modern patent usage.
2. TRIPS Agreement The World Trade Organization (WTO) was established through the agreements known as 'MARKKESH' agreement establishing the WTO. Intellectual property was not a part of WTO until the Uruguay round. It was introduced in the Uruguay round especially by the developed countries to be a part of WTO and it got the status in the WTO in the form of an agreement which is known as trade related aspect of intellectual Property rights (TRIPS). Intellectual property was opposed by some developing countries to be a part of WTO as they argued that "it is a tool



used by the developed countries for exploiting the developing countries and colonizing them”. However their opposition failed and TRIPS agreements was finally signed on 15th April 1994 by nearly 125 member countries. However it came into effect on 1st January 1995.

3. Conflict between Product and Process patent Under the WTO (world trade organization) regime, one of the most debated issues in the international negotiations is the issue of standardizing and strengthening the patent systems across the world. The debate gathered momentum due to the DUNKEL proposal related to TRIPS. The issue of similar patent standards across the countries led to a sharp division between the advanced developed countries (North) and the developing countries (South). In the southern countries (e.g., India), the governments usually practice process patent regime and that too with varying degree of enforcements under their laws. The North, on the other hand always insisted on the product patent regime in the South as practiced in the North. The issue created lots of discussions since many southern countries has to comply with the product patent in near future under the current WTO regime. The question of whether the north prefers product or process patent in the south is very important. The conventional economic reason underlying the conflict of interest between Northern and Southern

countries is easy to see. Northern countries are the major producers of newer technologies. Southern countries on the other hand depend a lot on the North for technologies needed for their growth and development. In case of process patent in the South, it is often be the case that the southern firm develops a different process of production that uses some of the cheap resources available in the South. As a result the Northern firm faces competition from the Southern firm in the Southern market and thereby it is derived of some of the monopoly benefits it could derive from selling the products in the south. On the other hand, if south practices product patent, Northern firm is protected from any competition in the same product in the southern market. Thus, product patent in the South would allow northern firm to get the monopoly benefit in the South. Hence, Northern firm would prefer product patent in the South.

4. Transitional period TRIPS agreement came into effect on 1st January 1995 and was applicable to all member countries. However, the agreement allowed member countries different periods of time to delay applying its provisions in their respective countries. These delays define the transition from before the agreement came into force (before 1 January 1995) until it is applied in member countries.

The main transition periods in developed countries were granted a transition period of



one year following the entry into force of the WTO Agreement, i.e. until 1 January 1996.

- 1) Developing countries were allowed a further period of four years (i.e. to 1 January 2000) to apply the provisions of the agreement other than Articles 3, 4 and 5 which deal with general principles such as non-discrimination.
- 2) Transition economies, i.e. members in the process of transformation from centrally-planned into market economies, could also benefit from the same delay (also until 1 January 2000) if they met certain additional conditions.
- 3) Least-developed countries are granted a longer transition period of a total of eleven years (until 1 January 2006), with the possibility of an extension. For pharmaceutical patents, this has been extended to 1 January 2016, under a decision taken by ministers at the Fourth Ministerial Conference in November 2001.
- 4) Introduction of Pharmaceutical Product Patent in India Issue of pharmaceutical product patent as per TRIPS agreement was once again a cause of concerns for India and international community. India being a social welfare state, the Indian Patent act was framed in a manner that ensured that the patents rights relating to pharmaceuticals could be regulated by the government. The patent act, 1970 also excluded agricultural products from patentability. Both the above provisions were aimed at keeping the prices low, ensuring adequate supply and growth

of the Indian industries.

Now, India being a member of WTO has to implement TRIPS agreement in totality. However by virtue of Article 65(1), (2), (3) and (4) India has to provide within 10 years effective product patent in pharmaceutical industries. Principles Underlying the Patent Law in India the Indian Patents act, 1970 and the patent rule, 2003 regulate the grant, the operative period, the revocation and infringement, etc, of the patents. The patent act was amended in 2005 and 2006 for the purpose of contemporary adjustment in patent laws. The principle upon which the Indian patent law is based is enumerated below:

- 1) The element of novel invention is dependent upon the state of prior art, i.e. the existing knowledge and similar inventions already known in the particular field. There would be no novelty if there has been prior publication and prior use of the same or an identical invention. E.g. The recent grant of patent in USA to Turmeric products was challenged on this ground, the Indian council of scientific and industrial research (CSIR) challenged the grant of patent on Turmeric by the US patent office on the ground that patent could not be granted since there was no novelty in the invention. Also, that what was patented was already published in Indian texts and use of Turmeric preparations has been made in our country since time immemorial. The CSIR was successful in getting the grant of patent to an



American company revoked.

- 2) The invention besides being new and non-obvious must also be useful. An invention which is new and also non-obvious but which cannot be put to any beneficial use of mankind cannot be patented. In some countries, not so useful inventions are protected as utility models. But that concept is not statutorily recognized in India.
- 3) The invention must be non-obviousness to a person reasonably skilled in the art to which the invention relates. Provisions in U.S: How Different From India Patentability in USA.
- 4) In US novelty implies to absolute enquiry on the invention. A single reference can be made to all the elements of the applied claims. First to invent/first to file: In USA, a person who has invented first gets the priority i.e. novelty is established to that person over the one who invented later on but files the application before the first who invented. The prior art i.e. any predated reference available before filing is applicable in US. In case of two persons making an invention differently on the same day, the person who files first gets the seniority, this is called Striking Interference. In India however, a person who files the application first, gets the priority. There is no concept of first to invent in India.
- 5) Unlike India where patent is granted only for inventions, in US patent is granted for inventions as well as discoveries. Utility: In US invention has

to useful to be patented. Procedure.

In India, only true and first inventor or his assignee may apply for the patent whereas in US, only the inventor may apply for the patent. Unlike India, where concept of both pre-grant as well as post-grant opposition is there. In US, only post grant opposition is allowed. India's Position in Patent Globally Patent Cooperation Treaty: A treaty establishing a system for international patent filing which allows for a single international patent application to have effect in multiple designated States, international search, international publication and optional preliminary examination.

Indian Patent System

The Indian IPR system is governed by following law:-

- 1) The Patent Act, 1970;
- 2) The Trade marks Act (1958 origin) 1999;
- 3) The copy right Act, 1957;
- 4) The Design Act, 2000;
- 5) The Geographical indication of goods (registration and protection) Act, 1999;
- 6) The Plant variety and farmer right protection act, 2001;

The patent system:-

A patent is a contract between the inventor or applicant for the patent and the state, whereby the inventor and applicant gets monopoly from the state for a certain period in returns for disclosing full detail of the invention. The patent system thus ensure that information on new invention is made available for eventual public use so as to encourage technical and economic



development and discourage secrecy.

If an inventor or company has an invention which they consider to be novel and inventive, they may apply for a patent. This may be granted after only detailed examination by a patent office. Once the patent is granted the inventor or applicant has the sole right to make, use or sell the invention for limited periods. This period is usually twenty years.

There can be also being confusion about what exactly can be protected by the patent system. Patent can only be applied to invention. Usually have an industrial dimension. An invention is normally a new product, which involves a new principle of operation or an improvement to an old principle, alternative it may refer to a new or improvement industrial process. Things which do not involve manufacture are not usually considered to be invention.

Adoption of the TRIPS Agreement and its adverse effects

Access to Medicines

Although the 2005 Act has made wide-ranging changes to India's patent regime, the most controversial provision is the one introducing product patents for pharmaceutical inventions. Civil society proponents are concerned that this would cause a steep rise in drug prices and adversely impact access to important drugs. They argue that the available TRIPS flexibilities have not been exploited appropriately and that adequate safeguards have not been built in to ensure an affordable supply of medicines. The 2005 Act has a

number of important safeguards built in to ensure that the production of existing generic versions of drugs is not jeopardized. It also has provisions to ensure affordable access to new drugs.

Compulsory Licensing

As mentioned earlier, the provision of two new grounds for compulsory licensing (one in respect of exports to countries that lack manufacturing capabilities and the other in respect of the manufacture of drugs that are the subject matter of mailbox applications⁴⁹) would go a long way towards ensuring that local industry can continue to manufacture at a cost lower than the innovative drug company. However, despite these new grounds, the new regime has done little to ease the administrative and procedural bottlenecks that constrained the invocation of compulsory licensing provisions under the old regime.

Retrospective Damages

Section 11A(7) provides that patentees are entitled to claim damages retrospectively from the date of publication of their patent applications, which means that the moment a patent application is published (as opposed to a patent being granted), a third party runs the risk of damages in case of infringement. The Act, however, provides that such retrospective rights under section 11A do not apply to pharmaceutical mailbox applications. This result, coupled with the fact that the twenty-year patent monopoly term runs from the date of the mailbox application and not from the date of grant, will reduce the strength of drug patents that fructify from mailbox applications, a consequence likely to benefit



the continued production of generics at low prices.

Therefore, the failure to grant retrospective remedies to mailbox applications, coupled with making them automatically susceptible to compulsory licensing provisions, will ensure that the supply of existing generic drugs at affordable prices is not unduly hampered. To a limited extent, generic manufacturers could also avail of the research exemption⁵⁵ and the wide Bolar provision in section 107A.

The Patentability Threshold

The question of whether the new regime will have an impact on access to new drugs is more vexed. This will depend significantly upon the scope of patentability of pharmaceutical inventions. Notwithstanding calls by civil society to restrict the patentability of pharmaceutical inventions to only new chemical entities (NCEs), no such express limitations were introduced. However, this does not automatically mean that all such substances (including new chemical entities, formulations, new drug delivery systems etc) will merit patent protection. Rather, the more rigorous requirements for 'inventive step' introduced by the 2005 Act and the expansive 'new use' exclusion could help in curbing new grants.

Opposition Mechanism

Apart from this, the robust opposition mechanism (pre-grant and post-grant) could be leveraged to filter out frivolous patents.

Price Control/Competition Regime

Fears that the price of patented pharmaceutical inventions may spiral also fail

to take into account price control mechanisms and the newly instituted competition regime in India. The multinational pharmaceutical industry argues that a product patent regime is essential for encouraging R&D in new drugs and catapulting the domestic industry into the innovative drug sphere. It needs to be noted however that basic reverse engineering skills (organic chemistry skills) are different from the skills required to arrive at new drugs (medicinal chemistry skills). Besides, the costs of researching upon and introducing a new drug into the market are colossal. It therefore remains to be seen whether incentives through a patent regime will achieve the desired results and whether Indian companies will be able to compete with global multinational companies on this turf

Effect of TRIPS Agreement on Indian patent system:-

It is very opportune moment (Trips agreement) for developing country like India. India has a long history of patent policy which was defined after enormous study of India appropriate to patents differ from those industrialized countries in that India sees patents as tool of public policy. India's policy is being challenged by the demand to reform IPR laws of TRIPs. This section provides an overview an overview of Indians patent policy.

Indians patent policy focused on balancing developmental concern with the need for promoting innovation. India viewed patent as a toll for economic development and restricted the scope and term of patent. The patent policy has a long history in India dating back to 1986 but the actual attention of



policy makers towards patents began right after independence. Two expert committees were established in independent India study patent and provide suggestions on the type of patent system that India should implement. The patent inquiry committee 1948-1950 reported that Indian pattern system failed in its main purpose namely to stimulate invention among Indians and to encourage the development and exploitation of new inventions for industrial purpose in the country.

Second committee ayyanger 1957-1959 noted that foreign patentees were acquiring patent not in the interest of the economy of country grating the patents or with a view to manufacture there but with the object of protecting an export market competition from rival manufacture particularly those in the other parts of the world. This India is deprived of getting in many cases, goods at cheaper price from alternative source because of the patent protection granted in India. The reports concluded that foreigner held 80-90% of the patent in India were exploiting the system of achieve monopolistic control of the market. Committee suggested a patent system that focused an access to resources at lower price would be beneficial to India.

The Patent Act of 1970 the current legislation on the patents in India was based on the recommendations of these committees the main aim in India was to ensure that patent did not lead to monopoly by foreign companies not lead to higher prices for medicines and food items. The Patent Law of 1970 (the current law) restricted

the field of patentability, only grants process and not product patent in food, pharmaceutical and chemical field, restricted term of patent and has an elaborate system of licenses to ensure that patent are worked in India.

The Indian patent Act has been hailed as model legislation for developing countries. The following essential future of the Act reveals the basic patents policy of India:-

1. General principle of patent grant that patent are granted to encourage invention and to secure that the invention are worked in India on a commercial scale and to the fullest extent that is responsibly practicable without delay and they not granted merely to enable patentees to enjoy a monopoly for the impetration of the patent article.
2. Principle of national treatment no limitations or restrictions on foreigners in employing for or obtaining patent in India.
3. Inventions not patentable – The following are not patentable:-
 - An invention the primary or intended use of which would be contrary to law or morality or injurious to public health.
 - The more discovery of scientific principle or the formulation of an abstract theory.
 - The more discovery of any new property or new use for a known substance, process, product and reactant.
4. Search of novelty compulsory search is required extending to prior publications



not only in India but also in any other part of the world.

5. Patentability will be limited of claims for the method or the processes of manufacture only in case of substance produced by chemical process.
6. Term of patent in 14years from the date of patenting in the case of inventions in the field of food, drug, medicine the term will be 7 years from the date of filling or 5years from the date of sealing, whichever shorter.
7. Licensing provisions are compulsory licenses and license of right. Compulsory licenses enabling another party to work the patent can be applied for any time after the expiry of three years from the date of sealing of patent.
8. Royalties – In the case of patent related to food, drug or medicines the royalties reserved to the patent under license shall not exceed 4% of the ex-factor sale price in bulk of the patent article.
9. Use of patent inventions by government- In order to ensure that scarcity of patent article does not arise and lead to high.

Indian patent policy and TRIP's:-

The philosophy of Indian Patent Act of 1970 varies enormously from the framework being established under TRIP's, there are several knowledge and information areas which India consider unpatentable. India has large community of scientist and researchers among which publication rather than gaining patents has been a concern of our whole orientation has to change from one that stresses intellectual attainment to one that

protect intellectual property. Industrialized nation connective of patents as a fundamental rights comparable to the right of physical property, where as developing nation view it as “fundamentally as an economic policy question” from the perspective of developed countries, intellectual property is a private right that should be protected as any other tangible property, but for developing nation, intellectual property is a public good that should be used to promote economic development.

The main objection of the U.S. is to the provision in India's patent law that allows for process but not product patents in the area of food, drug or medicine. The U.S. terms the activities of India to alternative process as “piracy” according to U.S. Indian firms are copying technology, development by advanced nations. This is leading large scale losses for the U.S. The PHARMA, the association that represents U.S. based pharmaceutical company point out, based on the refusal of the government to provide pharmaceutical patent protection. India has become a heaven for bulk pharmaceutical manufacturer who pirate the intellectual property of the world's research – based pharmaceutical industry.

CONCLUSION:-

The two greatest difficulties facing developing countries as they comply with their TRIP's commitments are the challenge to provide sustainable high quality public administration and to offer effective judicial enforcement for intellectual property.

In the majority of case, public officer which grant and maintain industrial property rights



are not well prepared to cope with responsibilities which will expand abruptly at the turn of the century as consequence of the TRIP's agreement. To diminish the jolt, advance preparations are indicated.

Among those preparations are decision regarding how patent administration will be financed of the patent examination will be conducted. Adequate financing of the patent administration could be assisted by converting the patent office into a semi-autonomous institute with authority to retain the fees it receive and apply them to capital and operating expenses. A number of countries have made this shift recently.

Such offices then become quasi-profit centers. There is an obvious tension between charging high fees to enhance revenue and maintaining break-even fees to assure interest in investing in the country.

The increasing burden of patent examination can be largely relieved through adoption of the suggested "reference system". At the same time, the quality of patent granted by the country will be increased.

The inability of some development countries, judicial system to provide effective remedies for infringement of intellectual property rights extinguishes the credibility of that country's intellectual property system. This is felt most acutely by local citizen who might consider investing time and money in creative and inventive activities.

Judicial reform is essentially a matter of political will. Once it is more widely understood that a nation economy suffers substantially for lack of an affective judiciary, deep and comprehensive reform can be achieved. In the meantime, the partial remedies of specialized court, training for judges and authority for decisive precautionary action will help.

Once adequately financed public administration and politically supported high-performance judicial remedies are in the place, it can be expected that developing countries will experience the solid economic benefits which flow robust protection for intellectual property.

*(Writer is Research Seholder in
Barkatullah University, Bhopal)*



"Take time for all things: great haste makes great waste. "

– **Benjamin Franklin**



"Don't let the past steal your present"

– **Cherralea Morgen**



ECO-LITERACY IS THE KEY TO SURVIVAL

● Kota Sriraj

In the scenario of climate change, resource depletion and environment-linked illnesses, it is crucial to strive for accumulation of ecological knowledge in the people. This is vital to the sustainability of humanity in harmony with the environment

Many environmental initiatives, especially in India, which have an enthusiastic beginning, fizzle out soon after. The initial motivation provided by the Government and supported by NGOs or other environmental organisations, does not translate into a long-term continuity and evolution of the proposal. Initiatives such as waste-segregation in Delhi, effort to ban plastic bags use and sanitation drives are some examples where lack of public awareness spelt a half-hearted response to an otherwise brilliant set of moves.

In a humongous country with a vast diversity and complex demographics, driving an awareness campaign is easier said than done. In situations such as these, the strong will of the Government plays a vital role in educating society on environmental conservation. However, when Governments lack the crucial will, the judiciary and the NGOs have to step in to compensate and take firm decisions, An example to this effect is how an NGO and the judiciary teamed up to ensure that Delhi, once the fourth most-polluted city in the world, slowly altered and set course towards adopting compressed natural gas as cleaner fuel for its city transport.

Here, even though the Government had instituted the crucial policies, it could not

follow up on them due to lack of political will. Therefore, the judiciary had to step in, and this was complimented by a vigilant media and NGOs that helped spread awareness on cleaner fuels.

When environmental governance is efficient, people's faith in the Government is preserved. However, when scandals such as the `3,500 crore mining scam rock the Government, the faith of the people is shaken and society looks for effective alternatives in the form of judicial activism, active Press as well as committed NGOs. They provide the required support and help take the cause forward. This relegates the Government's role to the backseat.

In order for the Government to reclaim its role, it is absolutely critical that two measures are taken. First, the societal confidence in the executive is restored, and second, immediate steps are taken to formulate effective awareness strategies that penetrate the complex fabric of society and communicate lucidly to the public on the various environmental policies that involve people's perception would go a long way in establishing the confidence in the Government. Add to this a transparent and clean governance with a zero-tolerance policy towards corruption will ensure that the confidence stays.



For instance, in June 2012, the Central Information Commission directed the Western Ghats Ecology Expert Panel report to be made public and open to comments. The report had recommended scrapping of two hydro-power projects in Karnataka and Kerala. Such steps bring transparency and policy making to the doorstep of the common citizen who has a say in conserving the environment.

A heightened stage of ecoliteracy is when people's participation forms a cardinal aspect during environmental policy formation. In this stage, the public is aware and educated regarding the fragility of environmental issues and their impact on daily life. Governments can play an active role in bringing about this stage.

For instance, in June 2012, the Central Information Commission directed the Western Ghats Ecology Expert Panel report to be made public and open to comments. The report had recommended scrapping of two hydro-power projects in Karnataka and Kerala. Such steps bring transparency and

policy making to the doorstep of the common citizen who has a say in conserving the environment.

However, often the main hurdle in ensuring eco-literacy is the challenge of educating general public about the intricate scientific aspects of environment. Due to the varying demographic factors across the country, generalising environmental education in order to facilitate an easy understanding of the concept can almost trivialise the subject. Hence, it is a challenge that the Government needs to take on and discover radical ways of attaining the objective without diluting the message.

A response to such challenges has been initiatives such as the environmental referendum. Environmental referendum can go a long way in ensuring eco-literacy at the grassroots levels. India's first environmental referendum conducted by the local gram sabha at Niyamgiri hills, in Odisha, backed by the Supreme Court ensured that religious and environmental concerns of the region were addressed and as a result a \$ 1.7 billion bauxite mining project of corporate giant Vedanta was vetoed.

In today's scenario of climate change, resource depletion and environment linked illnesses it is crucial to strive for accumulation of ecological knowledge in the society, as this is vital to the sustainability of humanity in harmony with the environment. Efforts towards eco-literacy can be said to be progressing if sustainable societies of the future automatically consider and accurately assess environmental implications of their actions and take remedial steps wherever required.

(Courtesy :- The Pioneer)





RESULTS ALONE DON'T MEASURE SUCCESS

● Meeta W Sengupta



To bring about improvements in school education, we need to first know the goals and targets that need to be addressed. That's yet to happen

We do bemoan the state of education in India, and of course a lot needs to be done to bring millions to literacy and numeracy. A lot more needs to be done to bring education to the literate argumentative Indian - but that is a discussion for another day. Even the schools and colleges that are supposed to instruct their wards in standardised curricula may only be working towards partial instruction. Because of what we measure.

We measure our success in education by the results students achieve. Other measures that explore the system in depth include the District Information System for Education data provided via the National University of Educational Planning and Administration to the Union Ministry of Human Resource Development. The Annual Status of Education Report explores student achievement in depth, as do the Wipro studies assess on more holistic criteria. Much progress has been made in these assessments of education systems in the past two years, with J-PAL setting up monitoring systems for helping education officers manage their areas better by changing the way they assess their zones by moving to a more collaborative and supportive approach.

It was interesting to realise that India allowed one pilot-run of the Programme for

International Student Assessment test, did not do well in that at all (ranking almost at the bottom of the global table) and then disallowed the test in subsequent years. The test was not suited to our education system and did not test the things that our students were prepared to answer. The students had been brought up in a system of rote learning and were unable to navigate their way through question that expected them to think, or at the very least re-arrange the facts. This hole in our education system is now being plugged with the very adventurous Problem Solving Assessments that supplement the new continuous evaluations introduced in schools all over the country. The PSA actually expects students to think and solve problems rather than replicate responses in standardised methods.

The emphasis here is on the process rather than on the results, though of course the rewards are for results achieved. Traditionalists (read, teachers and parents schooled in the old system) are protesting, outraged about the fact that the students now will have to enter uncontrollable spaces - such as thinking, analysing and processing for results. There are fewer guarantees of 'marks' since the process is now out of the parental supervision space. This and the watered down version of the open book examinations are tentative steps towards moving positive



steps, too mild to have much impact soon, but as they gain support and confidence will bring a fundamental shift in the learning process within the classroom.

Even at a systemic level, institutions are being assessed holistically. The Right of Children to Free and Compulsory Education Act looks at playgrounds, libraries and classroom spaces. The quality of teaching and learning is an area that needs more work—mere input criteria are inadequate. Even the Indian Institutes of Technology are now being assessed on a more holistic basis—on internationalisation, on the contributions to research, on the transparency of governance structures, on facilities and teaching and diversity and gender equity among other things.

This is progress indeed, and will help the institutions improve. But does it ask the right

questions? It depends upon the goals. And the goals must depend upon the needs of the stakeholders. Who decides the goals?

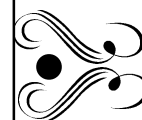
If the goal of the IITs is to climb up the league tables, then the set of criteria identified to assess them is perfect—it directly speaks to the criteria of the major league tables of the world and will help the IITs restore their lustre. On the other hand, if the goals of the IITs were to rejuvenate the manufacturing sector in the nation or to help the nation become a hub for applied research, then these might not be the only questions to ask—and hold the institutions accountable. Similarly with schools—do we know the goals and targets that we need to improve?

(Courtesy :- *The Pioneer*)



“I have three precious things which I hold fast and prize. The first is gentleness; the second is frugality; the third is humility, which keeps me from putting myself before others. Be gentle and you can be bold; be frugal and you can be liberal; avoid putting yourself before others and you can become a leader among men.”

— *Lao-Tzu*





MORE THAN BABY STEPS REQUIRED

● Editorial

Two-thirds of neonatal deaths occur in just 10 countries, and India accounts for more than a quarter of those. The well-being of the mother and the newborn in the first 24 hours is very critical. Nearly half of all newborn deaths globally occur during this time.

One more health-status indicator has recently been published, and as expected, India brings up the rear. Despite reducing under-five mortality from 2.5 million in 2001 to 1.4 million in 2012, India still holds the dubious distinction of having the highest number of deaths in the world in this vulnerable age group 22 per cent. Further, the 2013 UNICEF report on infant mortality highlights our notorious track record. Of the 2.1 million deaths in the entire southern Asian region, India's share alone is 1.4 million deaths. Being highly populous cannot be cited as a reason; the death rate, which refers to the number of deaths per one thousand live births, is much higher in India than a few South Asian countries. In 1990, Bangladesh and Nepal had death rates of 144 and 142 respectively, compared with 196 in India. But these two countries have performed dramatically by bringing down the rate of deaths to 41 and 42 respectively, and, as a result, surpassed India's (56) in 2012. Even as these two countries are quite close to achieving the 2015 Millennium Development Goal for under-5 mortality (of less than 38 deaths per one thousand live births), India would be able to reach that distant goal only in the mid-2020s. Unlike India, these two countries are reaping the benefits of heavy investments they made in health-care systems in the last two decades. One need not look outside for lessons. By emulating the

Tamil Nadu model, which has well equipped public health centres manned by doctors and well-trained staff present round the clock, India can beat down the under-five mortality rate.

Two-thirds of neonatal deaths occur in just 10 countries, and India accounts for more than a quarter of those. The well-being of the mother and the newborn in the first 24 hours is very critical. Nearly half of all newborn deaths globally occur during this time. With over three lakh newborn deaths, India ranks number one in terms of death on the very first day of birth. One of the major reasons for neonatal deaths is a lack of good delivery practices resulting in prolonged labour. This, in turn, results in birth asphyxia, the single-most important cause of mortality; even in Tamil Nadu, 16 per cent to 18 per cent of neonatal deaths are caused by this. Childhood anaemia is another critical area that needs immediate attention. Anaemia during the early years of life leads to repeated respiratory infection and makes the child more prone to diarrhoea. Even while steps are taken to address health issues, open defecation and the lack of clean drinking water both of which have a direct link to the health of children have to be tackled on a war footing.

(Courtesy :- The Hindu)

□ □ □



Dangers of chilling on climate change

● Nagraj Adve



Even if the rate of global warming is lower than earlier believed, there is no room for complacency

The forthcoming Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC) Summary for Policymakers, it has been reported, states that the rate of global warming has slowed over the last 15 years. It also argues that estimates of eventual warming from a doubling of carbon dioxide levels in the atmosphere are lower than was earlier thought. Taken individually, each of these assertions is a partial narration of ongoing climate processes. Read together, they carry the danger of fostering complacency, both about the current rate of global warming and the urgency in avoiding dangerous levels of warming.

Three theories

There have been at least three theories in recent climate science literature seeking to explain the slowdown, or “hiatus,” in global warming. Global warming is measured by taking an average of near-surface air temperatures all over the globe throughout the year, but this does not account for the heat trapped by greenhouse gases that is transported into the deeper oceans. Warming of the ocean waters below 700 metres has been exceptional in recent years. A study in *Geophysical Research Letters* says that “depths below 700 metres have become much more strongly involved in the heat uptake after 1998, and subsequently account for 30% of the ocean warming,” precisely the period in which surface warming has slowed down. But despite being transported into the

deeper oceans, much of this heat energy will show up as warming sooner or later.

Aerosols

Another proposition is that a prolonged La Niña-like cooling in the tropical Pacific has lessened the impact of greenhouse gases by 0.15° Celsius globally in the recent decade. It is a natural variability and, if this is the cause, the slowdown will be temporary, as a recent paper argues (Yu Kosaka and Shang-Ping Xie, ‘Recent Global Warming Hiatus Tied to Equatorial Pacific Surface Cooling’, *Nature*, doi: 10.1038/nature12534). A third theory is that near-surface warming is being masked by an increased generation of aerosols, caused by greater manufacturing occurring in China in this period and, to a lesser degree, India. This particulate pollution is harmful to human health but has a cooling effect in climate terms. In the decades after World War II as well, aerosols from dirty manufacturing processes then in the developed world slowed surface warming despite one of the most rapid rates in carbon dioxide emissions growth. Unlike CO₂ though, aerosols have a lifespan of a few days; clean up your industrial act, and their cooling effect promptly disappears.

These varied explanations help form a more complete picture of ongoing climate processes. One assumes that this more complex picture would be presented, if not in the AR5 Summary for Policymakers, then in the Technical Summary, which in IPCC’s AR4



2007 was over four times as long as the former. It would be premature to rush to a definite opinion before seeing what these documents say, and hearing independent scientific opinion on them. The half has not been told us.

The second major revelation is that the lower end of eventual warming from a doubling of carbon dioxide levels has been reduced from 2°C in the IPCC's 2007 AR4 report, to 1.5°C. Some have argued, though, that most such estimates do not include slow feedbacks. Feedbacks, in the climate context, are ecosystem responses to global warming that usually cause further warming. The effects of slow feedbacks such as reduced albedo reflectivity from the great ice sheets in Antarctica and Greenland, and greenhouse gas releases from the oceans on their getting warmer (in contrast to absorbing them now) take much longer to play out. Including slow feedbacks in their analysis led James Hansen, among the world's most respected climate scientists, and others to conclude that "global climate sensitivity including the slow surface albedo feedback is 6 degrees Celsius for doubled CO". Carbon dioxide may be much more potent than we realise. Again, perhaps it is best to keep conclusions in abeyance until we fully hear what the IPCC has to say.

Melting in the Arctic

What is really worrying is the complacency that these two points that warming is slowing and CO is less potent read together may engender. As it is, sections of the Indian political class are not exactly known for their alacrity in responding to crises faced by the poor. Making them respond with greater urgency becomes all the more difficult if complacency about global warming spreads

These varied explanations help form a more complete picture of ongoing climate processes. One assumes that this more complex picture would be presented, if not in the AR5 Summary for Policymakers, then in the Technical Summary, which in IPCC's AR4 2007 was over four times as long as the former. It would be premature to rush to a definite opinion before seeing what these documents say, and hearing independent scientific opinion on them. The half has not been told us.

among political organisations and members of the public at large. I have already been asked, at two talks in the last one week: but the warming is slowing down, isn't it? Even as we speak, the world is facing the dead-certain prospect of largely ice-free Arctic summers for the first time in at least 2.5 million years. Ice-free Arctic summers will nudge us even closer to dangerous or even irreversible warming. The need for that urgency has never been greater.

(Nagraj Adve works and writes on issues related to global warming. E-mail: nagraj.adve@gmail.com)

(Courtesy :- Hindu)





WASTED FOOD FOR THOUGHT

● Editorial

A United Nations Food and Agriculture Organisation report now says that this high volume of wastage that occurs right through the food supply chain exerts an adverse impact on land, water, biodiversity and climate change. This impact is in addition to the green house gas emissions that are known to result from current patterns of food production, processing, marketing and consumption associated with global commercial flows.

That one-third of the food produced annually for human consumption is wasted is in itself unconscionable in a world where 870 million, or one in eight people, go hungry every day. A United Nations Food and Agriculture Organisation report now says that this high volume of wastage that occurs right through the food supply chain exerts an adverse impact on land, water, biodiversity and climate change. This impact is in addition to the green house gas emissions that are known to result from current patterns of food production, processing, marketing and consumption associated with global commercial flows. The report focuses on factors that contribute to the decrease in mass and nutritional value of food caused by poor infrastructure, logistics and technology. It also sheds light on multiple costs from food wastage that result from natural disasters, excessive supply, distributional bottlenecks and eating habits of consumers. In Asia, the already high carbon footprint from the cultivation of cereals is compounded by huge volumes of wastage owing to inadequate storage facilities. The carbon footprint of wasted meat in high income regions is to the extent of 67 per cent. Not to mention losses from perishables such as fruit and vegetables. Cumulatively, food ranks as the third emitter after the United States and China. Moreover, food that is produced, but not eaten, occupies close to 30 per cent of the

world's agricultural land, says the report. Such an extremely unproductive use of land is hard even to contemplate given the current scramble for fertile and wet lands in Africa and parts of Asia. Multinational corporations that have resorted to such means to shore up food grain supplies in the aftermath of the global food crisis have encountered hostile resistance from native populations.

Clearly, the judicious use of available food ought to be a critical global priority. This is especially the case since studies have estimated that agricultural output would have to increase by 60 per cent by 2050 to cope with the demands of a growing population. The world is still reeling under the combined impact of the recent rise in food grain prices, commodity speculation and the havoc from freak weather patterns. Rich nations must endeavour to mitigate further economic and environmental cost through aggressive deployment of scientific know-how and technology transfers to poor countries. Under-nourishment and hunger remain the biggest risks to health today, greater than malaria, HIV-AIDS and tuberculosis combined. As with these diseases, they too can be tackled with the requisite means and, above all, political will. The time is now.

(Courtesy :- Hindu)





DEMOCRACY Vs. CAPITALISM

● Ashutosh Varshney.

The domestic origins of India's economic problems lie in that clash.

Over the last few months, India has been going through an experience well known to the historically inclined students of political economy: namely, a clash between democracy and capitalism. Most wealthy democracies have had this experience at a certain stage of development, and one might even argue that the clash has not yet fully disappeared. By looking at the matter comparatively, we can perhaps get a surer perspective on India's current economic malaise.

Let us begin with a deceptively simple question: what produces the clash between democracy and capitalism? Fundamentally, the building blocks of the two systems democracy and capitalism are different. Democracy is premised on the idea of political equality. Capitalism is not about equality, political or economic. It is fundamentally about economic freedoms, freedom to buy and sell, freedom to invest and make a profit, freedom to invent, freedom to reap the rewards of one's work, capacity or luck. It does not matter whether one is rich or poor; each person has only one vote in a democracy. A person ten times richer than his neighbour would still have one vote, but in the marketplace, the same person would undoubtedly have greater clout. The rich matter more in the economic market; the poor, especially if they are numerous, count for

more in the market for votes. Even if the rich finance election campaigns, the vote of the poor must be won.

This has well-known consequences for democracy. Without investment, the democratic project of welfare or redistribution begins to falter. One must, therefore, enlarge the cake in order to split it. Where the balance between the democratic desire to provide mass welfare and the capitalist impulse towards economic freedom lies has been a concern for all democracies.

Let us now turn to India. The external origins of India's macroeconomic fragility are undeniable: as capital leaves emerging markets, the economic recovery of the US is a problem for them to begin with, and a blessing only later. But the domestic origins of India's economic problems are firmly anchored in the clash described above. As Indian democracy moves towards presenting access to food, education and partial rural employment as a right to the masses, the investment rates have fallen, capital has begun to move out, and the currency has come under enormous pressure.

Only 66 years old, India is a new democracy. How have the older democracies handled the problem? Three things ought to be noted.

First, older democracies instituted



By giving the right to vote to the subaltern, democracy inevitably tends to put restrictions on economic freedoms. When such restrictions are viewed as excessive, capitalism often punishes democracy. The term "investment strike" best expresses this phenomenon. Faced with a government going supposedly too far in the direction of the poor, the capitalist can simply refuse to invest.

universal franchise the right to vote without any distinction of gender, race, ethnicity or income only after they had become rich. Universal franchise became a Western institutional practice in the 1910s and 1920s. The West was already highly economically developed by then, producing, for example, 77 per cent of the world's manufacturing output by 1900. As a result, Western capitalism did not feel intense redistributive democratic pressures until very late. In contrast, independent India was born with extensive poverty and universal franchise.

Second, as franchise expanded in the West, to include the lower classes, welfare states, with public expenditures reserved for low-income groups, also began to emerge

virtually everywhere. The first welfare state was born in Bismarck's Germany in the 1880s, as all male adults got the right to vote; it emerged in 1910-11 in the UK and in 1932 in the US, as franchise became larger. Welfare states have been of different types but, basically, all democracies feel the political necessity to attend to the well-being of the masses, not leaving it to markets alone.

Third, unlike in the West, the poor in India have come to vote much more than the rich. Over the last two and a half decades, India's poor have defied democratic theory, which says that the rich and the educated tend to vote more.

What inferences does this comparative sketch allow? As at some historical point in the other market-based democracies, capitalism and democracy are at odds in India today. And because universal franchise was instituted at a low level of income and the less educated and the poor have started voting more than the rich, India's democracy has felt an acute pressure to develop a welfare state even before reaching a high level of income. Moreover, since most of India's low-income population comes from four social categories the scheduled tribes, the scheduled castes, lower OBCs and Muslims the polity has moved quite decisively towards their concerns. Given the continuing tale of mass deprivation, it may not look that way on the urban streets and rural pathways, but India's policy and voting space has an unmistakable plebeian thrust today, both economically and socially.

What mainstream economists derisively call the reckless populism of India's government is, in fact, the call of a poor



democracy very substantially, if not wholly. It is not only the UPA government that has supported rights to food, education and rural employment; all political parties have. Indeed, non-Congress state governments in Tamil Nadu and Chhattisgarh have run bigger welfare programmes. Narendra Modi's critique of the food security bill was that it was not sufficiently ambitious.

Only a third of India, at best, can be classified as middle class. Democratic politics is unlikely to prioritise their concerns over those of the remaining two-thirds, especially if the middle classes, for a whole variety of reasons, vote less than the rest. Mainstream economists would like India's governments to rely on long-term, growth-based plans for poverty alleviation, interfering little with the market. Politicians, however, have to win the next elections. Something concrete must be done here and now. Long-run considerations often do not work well in electoral politics.

But mainstream economists are absolutely right in one sense. If, in the process of attending to the bottom half or two-thirds, India's democracy adopts policies that choke the growth process, it will not be able to provide mass welfare either. Revenues to fund welfare programmes depend heavily on economic growth, which in turn is substantially dependent on investment. Therefore, regardless of what the masses want, democracies must also please investors.

That is where UPA 2 has erred. It had to walk on two legs: one that increases the investment rate, makes it easier to do

Only a third of India, at best, can be classified as middle class. Democratic politics is unlikely to prioritise their concerns over those of the remaining two-thirds, especially if the middle classes, for a whole variety of reasons, vote less than the rest. Mainstream economists would like India's governments to rely on long-term, growth-based plans for poverty alleviation, interfering little with the market.

business and enhances growth, and the other that attends to mass welfare. It concentrated on the second leg, taking investment and growth for granted. It assumed that India had become a land of business opportunity, but it did demonstrably little to nurture that belief.

But it is not too late. India's economic malaise is not yet a full-blown economic crisis. The morale of the narrative sketched above is quite simple. If investment and growth have serious implications for mass welfare, restore investor confidence with greater incentives and simpler rules of doing business. It is not anti-poor to be pro-investment.

The writer is Sol Goldman Professor of International Studies and the Social Sciences at Brown University, where he also directs the India Initiative at the Watson Institute. He is a contributing editor for 'The Indian Express' express@expressindia.com

(Courtesy :- The Indian Express)





SLUM-FREE CITIES

● Editorial

R | ecently released census figures on urban slums reveal two distressing facts. First, that Indian cities are amongst the most unequal and least inclusive in the world. Second, the enumeration of the urban poor and their places of habitation are grossly incomplete and thus inaccurate. Data from 2,613 of the 4,041 statutory towns show that the population living in slums has increased by 25 per cent in the last decade, reaching 65.4 million in 2011. The figures would have been much higher and the disparity would have appeared even wider had the enumeration been diligent and complete. Other estimates place the population living in slums at over 90 million. It would be incorrect to attribute migration as the principal reason for the increase in slums. As the expert group on urban poverty and slums for the formulation of the Twelfth Five-Year Plan has clearly stated, their proliferation is a result of the failure of housing policies. For instance, the interest subsidy scheme, which is meant to provide financial assistance to lower income groups to secure housing and enable construction of three lakh units, has so far reached only 13,485 beneficiaries. Similarly, many State governments have failed to implement the National Urban Housing and Habitat Policy's recommendation to allocate 15 per cent of land in residential projects for housing the poor.

The census also discloses another disquieting fact. Though there are more than

13.7 million households living in abysmal conditions, States have formally notified only about a third of them as slums. This leaves a large number of others in a more vulnerable condition: health and sanitation facilities hardly reach non-notified slums, and they are prone to forced eviction. In situ rehabilitation of existing slums without any discrimination is imperative. Following the failure of many earlier schemes, the government launched a new one entitled Rajiv Awas Yojana (RAY) in 2011. RAY has promised slum free cities in future, and commits to rehabilitate existing slum dwellers in the same place where they are living, provide secure tenure and improve access to services and sanitation. The State governments should implement this ambitious scheme across cities without delay and dilution. The key challenge is to provide serviced land for social housing. Realising this, the National Advisory Council, in its suggestion to improve RAY, has recommended that cities should earmark about 25 to 40 per cent of land in their development plans for social housing. Without this important measure, it would be difficult to prevent the formation of new slums. Sustainable and equitable urban development is possible only when our cities adequately address the issue of housing the poor.

(Courtesy :- Hindu)

□ □ □



INDIA'S INVISIBLE POPULATION

● NITHYA V. RAMAN

● PRITI NARAYAN

Denying basic amenities to residents of 'unrecognised' slums is an affront to their dignity; resettling them fails to address their concerns and is unviable financially

Since 2005, the Central government has given significant amounts of money to the States to improve conditions for the country's urban poor, first under the Jawaharlal Nehru National Urban Renewal Mission (JNNURM) and more recently through the slow-moving Rajiv Awas Yojana (RAY). Unfortunately, very few studies have looked at how effective these programmes have been in achieving their objectives. Our research in Chennai suggests that money from the JNNURM did not effectively address the needs of the city's most vulnerable residents.

How could this happen in a programme explicitly designed for this purpose, and in a State known for its generosity to the poor? This is because Chennai faces a problem common to many cities across India: it has two tiers of slums those with official government recognition and those without, and the JNNURM did not push cities hard enough to directly intervene in slum areas without recognition.

NO ACTION SINCE 1985

According to the Tamil Nadu Slum Clearance Act of 1971, the government is

supposed to identify slums, officially recognise them as slums, and then improve these areas. As soon as the Act was passed, the Board identified and recognised 1,202 slums in Chennai, and added another 17 slums to the list in 1985. All of these slums were improved in situ, either by building tenements or by providing basic services. However, in a sharp break with this progressive history towards the urban poor, not a single new slum has been officially recognised in the city since 1985.

In the nearly three decades that have passed, hundreds of new slums have come up in the city. Unfortunately, because the Tamil Nadu Slum Clearance Act states that you must recognise a slum before you can intervene in it, government programmes to increase access to services for the poor, including the JNNURM, have not directly intervened in these areas with predictably tragic results. Very little reliable information actually exists about these unrecognised slums but we found one study on them commissioned by the Tamil Nadu Slum Clearance Board in 2002. The study found a total of 444 unrecognised slums within the



The government's only response to such slums has been indirect. Rather than recognising them and improving residents' access to services, the Board has constructed large-scale resettlement colonies on the outskirts of the city on land it already owns in Semmenchery, Kannagi Nagar, and now in Perumbakkam.

Chennai Metropolitan Area, with nearly half a million residents at the time, and an average of 620 people relying on a single public water facility in unrecognised slums within the city, far more than the norm of 75 people per water facility. Such numbers are shameful. What they show is that these unrecognised slums have effectively become an invisible Chennai, not counted in the official statistics of slum-dwellers used in the Master Plan and by the Slum Clearance Board, and largely ignored by the service provision agencies.

INDIRECT RESPONSE

The government's only response to such slums has been indirect. Rather than recognising them and improving residents' access to services, the Board has constructed large-scale resettlement colonies on the outskirts of the city on land it already owns in Semmenchery, Kannagi Nagar, and now in Perumbakkam. Unrecognised slums, since they have no land rights, are regularly evicted, and eligible families (those with the required paperwork) are housed in the resettlement colonies. In fact, more than 75 per cent of spending for the urban poor under the JNNURM has gone towards building these colonies, and recent news reports suggest that the Slum Clearance Board is planning to build a total of 1,25,000 such units across the State, in part with funding from RAY.

POOR POLICY

However, this response is inadequate. Both the media and civil society organisations have documented the extreme trauma faced by families evicted to these colonies. What has not been highlighted so far is that building resettlement colonies is just poor policymaking. Resettlement housing is expensive: according to policy notes, costs have increased from Rs. 4.5 lakh to 7.5 lakh per house over the last few years, and building homes for all the 100,000 odd families identified in unrecognised slums in the 2002 report alone would cost the city more than \$1 billion.

Moreover, many residents do not seem to want such housing: news reports find that nearly 20 per cent of allotted homes in Kannagi Nagar are vacant and 50 per cent of



the original beneficiaries are no longer living in them.

Most importantly, building adequate amounts of resettlement housing to house all slum-dwellers will simply take too long. Based on the Slum Clearance Board's rate of construction so far, building housing for all the families in unrecognised slums identified in 2002 alone would take 40 years, and there would be even more families now. Must these families be denied their basic dignity for so long?

REASONABLE STRATEGY

A far more reasonable strategy would be to once again implement the Tamil Nadu Slum Clearance Act in the spirit that it was written, and start to recognise slums and improve them in situ.

Government officials frequently cite the lack of land in central city areas to justify the absence of slum recognition in the last three decades. But the 2002 study highlighted another extraordinary fact: all the unrecognised slums in the Chennai Metropolitan Area at the time together only took up 4.8 sq km, just 1.1 per cent of the area of the expanded Chennai Corporation. Even if some resettlement is required, Right to Information Act petitions have revealed that there are nearly 11 square kilometres of unused land available under the Urban Land Ceiling Act in small pockets all over the city so that slum-dwellers can be resettled nearby, avoiding the trauma of far-away resettlement.

LACK OF POLITICAL WILL

Clearly, what the city lacks is not land but political will. In the early 1970s, when the

Clearly, what the city lacks is not land but political will. In the early 1970s, when the Board was first created, the State government passed orders transferring the land on which slums sat to the Slum Clearance Board. The massive allocations under the JNNURM for the urban poor were an opportunity to create the political will for transferring land to slum-dwellers once again, but the Central government chose to fund resettlement colonies instead

Board was first created, the State government passed orders transferring the land on which slums sat to the Slum Clearance Board. The massive allocations under the JNNURM for the urban poor were an opportunity to create the political will for transferring land to slum-dwellers once again, but the Central government chose to fund resettlement colonies instead. Unless the Central government uses programmes like the JNNURM and RAY to incentivise State and city governments to intervene directly in unrecognised slums, it will risk leaving hundreds of thousands of residents without basic services for decades to come.

(The authors are researchers at the Transparent Chennai project at the Institute for Financial Management and Research)

(Courtesy :- Hindu)





IN SEARCH OF THE ORDINARY WOMAN

● PRABHA SRIDEVAN

Contrary to the perception that she is vengeful and abuses the law, all she wants is a life of dignity.

Is there an Ordinary Woman? We need an image of her, if we have to negotiate a space of equality and dignity for the woman. The judges have created an image of the Reasonable Man. We have no image of the Reasonable Woman or Ordinary Woman in our judicial pronouncements.

In *Dothard v. Rawlinson*, the question was whether the regulation which barred women from being employed in all-male prisons violated the right to equality. The U.S. Supreme Court by a majority upheld the regulation. Justice Marshall dissented and said: "It appears that the real disqualifying factor in the Court's view is "[t]he employee's very womanhood. With all respect, this rationale regrettably perpetuates one of the most insidious of the old myths about women that women, wittingly or not, are seductive sexual objects." The judgment itself was a construct of what a woman is, physically less capable of protecting herself, inherently a sexual object, and incapable of inspiring order and discipline.

'Feminist perspective'

We must remember that the lived experience of the Ordinary Woman and the Ordinary Man is different. This is clear from the speech by Lady Hale, the only woman in the U.K. Supreme Court. "More objective evidence for difference lies in Feminist Judgments, a recent experiment in re-writing

a variety of well-known judgments from a feminist perspective and seeing what a difference that can make. Women judges may think that some of the results are only common sense which just shows how gendered a concept like common sense can be." It clearly argues the case for inclusiveness and diversity on the Bench.

This is an extract from the *Other Side of Silence* by Urvashi Butalia: "Is there such a thing, then, as a gendered telling of Partition? I learnt to recognise this in the way women located, almost immediately, this major event in the minor keys of their lives. From the women I learned about the minutiae of their lives, while for the most part men spoke of the relations between communities, the broad political realities." We have been told that discriminating markers like poverty are gendered, it seems even common sense and memory are gendered.

That the law which is facially equal kicks in injustice when it is put in action is something we recognise too late. Justice Verma report says: "This brings us to the vexed question that unless and until the state pursues a policy of avowed determination to be able to correct a historical imbalance in consciousness against women, it will not be possible for men and indeed women themselves, to view women differently and through the prism of equality."



A case of sexual harassment once came before the Madras High Court. The Enquiry Officer found the delinquent officer guilty. The High Court exonerated him. The judgment makes certain observations which indicate how the Ordinary Man is constructed differently from the Ordinary Woman. "The delinquent is leading a happy married life and there was no necessity for him to solicit sexual favours from anyone, much less the complainant. The complainant lodged the said criminal complaint only to create documentary evidence in her favour so as to be used in the departmental proceedings which shows her motivated intention of achieving her illegal goal of throwing the delinquent officer from his official position." Going by the judgment, the Ordinary Man is ordinarily faithful. The Ordinary Woman is ordinarily vengeful. Judicial decisions are not immune from the prism through which ordinary people are viewed.

Then we have the concept of consent. Unless she kicked, scratched and tore, or (as we have recently heard) called out to her attackers as "brothers" and pleaded with them to "leave me alone," she has consented. This is another profile of the Ordinary Woman.

The Ordinary Woman is perceived to abuse the law. She is bent on wrecking the home with a false case and recklessly sends to prison innocent members of her family including aged mothers-in-law and pregnant sisters-in-law. These are the spectacles through which this Ordinary Woman is seen. An impression has been created that women who have no reason to be aggrieved are abusing the law.

The truth is otherwise. No woman who is happily married will invoke this provision. Most women suffer adverse consequences



The Ordinary Woman is perceived to abuse the law. She is bent on wrecking the home with a false case and recklessly sends to prison innocent members of her family including aged mothers-in-law and pregnant sisters-in-law. These are the spectacles through which this Ordinary Woman is seen. An impression has been created that women who have no reason to be aggrieved are abusing the law.



when they no longer have a spouse, because of death, divorce or desertion. For this reason, the majority of women in India suffer in silence within an abusive marriage, even a severely abusive one.

Section 498A

Those who attack Section 498A of the Indian Penal Code which punishes a husband or his relative who subjects a woman to cruelty use two arguments: it destroys the family; innocent bystanders are dragged in. Let us examine the first argument.



What is a family? It is a fundamental social unit and each member of the unit has the right to be safe from injury being inflicted by the other. If one parent/ spouse systematically inflicts cruelty on the other, to the point there is danger to life or limb of that member of the family, then the family has set off on its path of self-destruction. The destruction did not commence with the perpetrator, usually the male, being taken into custody but well before that. The offence itself is structured on a destroyed or an about-to-be destroyed family. So the statement that the family is destroyed if a complaint is lodged by the woman under Section 498A is an offence to her dignity and to her right to live.

A study on 498A in Tamil Nadu was conducted by EKTA, a resource centre for women. It showed that even if all the cases under Section 498A, Dowry Prohibition Act and Section 304B are brought together, each All Women Police Station investigated not more than two cases per month. Where, then, is the widespread abuse of Section 498A?

The abused woman will find it difficult to secure the necessary evidence, because the scene of occurrence is within the “four walls” of the matrimonial home. So if a case fails, it is not because the case is false, but because there are inherent difficulties in the case going through the whole trial, not least of which is social pressure. The report showed that for offences under Section 498 A, arrest of senior citizens was 3.95 per cent. So the parents-in-law were not roped in in all the cases. Almost all the judicial officers who were interviewed said that the accusation that women are using Section 498A to extract money is not justified. So the image of the Ordinary Woman with a false case is incorrect.

Let us visualise the Ordinary Woman. The Ordinary Woman gets up early and cooks for the family. She packs food for the children and her husband. If she works at home, her strenuous chores begin thereafter. If she works outside she goes by public transport and does not want to be touched or mauled or leered at on the way. At work she wants to be treated with dignity, and does not walk about in a state of perpetual consent. She comes home all tired but generally the Ordinary Woman’s husband does not share the house work. So she begins the chores at home till she is ready to drop asleep. She wants to be treated with respect by her husband and does not want to be hit. She wishes to be cordial and friendly with others without being suspected of adultery. She is not a compulsive liar. She does not readily go to court. If she does, it is only because she is aggrieved. She does not complain about her marriage or her husband unless pushed to it. She knows that she will be a burden on her natal family if she returns. She also knows that if she comes out of the marriage she will suffer economic disadvantage. So she puts up with a lot of suffering being aware of her life’s reality. She does not consent to rape. She does not “ask for it.” She does not want to be abused. She deserves to be safe at home and outside. She deserves to be treated with dignity. She deserves a full life. Is that too much to ask?

(writer is a former judge of the Madras High Court. The article is excerpted from her keynote address on August 11, 2013 at a conference organised by the Majlis Legal Centre, a forum for women’s rights discourse and legal initiatives)

(Courtesy :- Hindu)





IN THE NAME OF PRIVACY

● SONAL SHARMA

Neighbours in this particular incident, like many others in the past, couldn't stop the abuse for a long time because they couldn't look at the home as the domestic worker's workplace, but simply as a private space of the employer, to which the employer constantly denied them entry. Even the police had a tough time entering the house and finally rescuing the girl. This raises the question on the notion of 'privacy' itself which seems to be providing a shield for the exploitation of the victim.

The recent brutalisation of a minor domestic worker in the Capital has taken aback everybody. However, most of us know this is not the first incident in which a woman domestic worker has been abused like this; this incident just adds to the swelling statistics of abuse of domestic workers across the country.

The other disturbing issue which many of these incidents highlight that when such matters surface, neighbours often report that they had always heard screaming or sometimes even knew that the abuse was happening. The question arises, then, why couldn't they report it the minute they felt something unusual was on? Why couldn't they come out and take a step when the victim had been facing a long period of trauma and torture?

Neighbours in this particular incident, like many others in the past, couldn't stop the abuse for a long time because they couldn't look at the home as the domestic worker's

workplace, but simply as a private space of the employer, to which the employer constantly denied them entry. Even the police had a tough time entering the house and finally rescuing the girl. This raises the question on the notion of 'privacy' itself which seems to be providing a shield for the exploitation of the victim.

Actually, domestic workers' site of work doesn't belong to them as it is their employers' zone of privacy. It is not difficult to imagine that when such screams are heard in many situations, people won't intervene. The State does not recognise domestic work as work because it happens in private homes, and it is primarily the nature of their place of work which makes domestic helps vulnerable to such violent experiences, considering these spaces are not open to public scrutiny like any other workplace.

The inhuman treatment has got a lot of attention and the employer has been condemned. However, one should not forget



that unless domestic workers are recognised as workers and the homes they work in as 'workplace' a place with some claims, accessible for inspection by labour inspector, and with well-defined roles there will always be extreme incidents of violence like this, which however camouflage the invisible routine violence occurring everyday.

The routine forms of violence are important to contemplate as this particular shameful incident which has made everybody think of the working conditions of the domestic workers. Violence is not just about the visible and extreme harm on one's body but it is also about acts which constantly shut one up every time one feels the need to resist something. It is the process that leads to one's inability to make a choice, speak up, and to be free. The routine nature of violence is not visible because it gets dissolved in the conduct of everyday life which doesn't allow it to be stark.

This often takes the form of the denial of usage of toilet, separate utensils, serving old and even rotten food. Of course, not all employers ill-treat their helps, but then the question arises what can be defined as ill-treatment in such contexts, given there are no standards to judge? In the absence of any comprehensive law on domestic workers rights', particularly to their workplace, even the everyday interactions between employers and domestic workers carry the seeds of such extreme forms of violence.

In Delhi, for example, many housing societies of "respectable people" build separate toilets for their maids and other service-class people. These toilets can be as far as a 10-minute-walk from the workplace, and often these toilets could be locked and the key could be with the male chowkidar. It

could also be located on the terrace, on the fifth floor, while the workplace could be in the basement.

A part-time domestic worker says that even if she desperately had to use the toilet she would not ask her employers because if they say no to her, she would be hurt. She also shares that, once, in the same society, a live-in maid used her employer's toilet; when the employer found this out, she was embarrassed and thrashed in public.

People can justify separate toilets, separate food, and separate utensils or simply denial of any resource in the name of privacy. However, this privacy is not neutral and innocent; it hides the employer's values and beliefs, based on class and often caste privilege, that, some people are less worthy. The belief that your maid can control her physical urge to urinate and can climb several floors just to use the toilet is a sign of the devaluation which gets institutionalised through such arrangements.

But, separate toilets are still better than the cases in which workers are just assumed to go out, which could be anywhere. This treatment only highlights how often employers treat their maids as inferior beings.

The incident that took place in Delhi's Vasant Kunj is certainly criminal, and not acceptable, but it is also not "inhuman", as it is being called, as if it is a rare exception. By calling it inhuman, we will conveniently turn our faces away from the everyday reality of domestic work relations in the household space.

(The writer is a researcher at the Dr. B.R. Ambedkar University, Delhi)

(Courtesy :- Hindu)





WHERE KNOWLEDGE IS POOR

● KRISHNA KUMAR

The role of education in reducing poverty is widely recognised but our planners are yet to realise how the impoverished struggle with a learning process that is unresponsive to their needs

In a society where poverty is far more common than prosperity, one would expect the implications of poverty for education to be widely recognised. What we find, instead, is that poverty is seldom mentioned directly in policy documents on education. Policymakers feel more comfortable using euphemisms like “economically weaker sections,” the “marginalised” or the “deprived” to refer to the poor. No wonder the impact of poverty on children’s life at school and learning is understood rather vaguely not just by educational planners, but teachers too.

Incompatibility

The reason poverty must be treated as a factor of education arises from a basic incompatibility between the two. Education necessarily demands long-term horizons. Poverty, on the contrary, compels people to remain embedded in immediate or short-term concerns. India has now recognised eight years of compulsory education as a right of every child, but endemic poverty and social inequality are posing tough constraints in making this law a reality. Elementary education by itself means little; it can only serve as a foundation for further education over many years. The informal economy on which the poor survive forces them to live from day to day. They want to but usually fail

to plan for the distant future in which their progeny might reap the fruits of education. The children belonging to poor families find it difficult to cope with the regularity that schools demand. This is because hunger, illness and insecurity interrupt their life at home all the time. Their parents have to use most of their energies in order to deal with everyday emergencies.

Life under poverty is unpredictable and prone to sudden losses and traumas. For the poor, there is no such thing as normalcy. Anything can happen anytime, and all you can do is to cope as you suffer. In big cities, municipal authorities can suddenly clear a street of food vendors or bulldoze an unauthorised colony. Next morning, when a child fails to be at school or looks subdued, the teacher shows no curiosity to find out what might have happened to the child’s father or mother the previous afternoon. In rural areas, flood waters can drown hundreds of houses; yet the school is supposed to function and cover the prescribed syllabus! Dams or factories can mean displacement of whole villages. What will happen to children is the least important concern for those in charge of such operations. I once met children in Manibeli, a village that now lies at the bottom of the Sardar Sarovar dam. They had gone through the trauma of seeing their own school



vanish under water.

Mid-day meals programme

Poverty also has a corrosive effect on children's health and mental capacities. Frequent illness, especially on account of stomach-related problems, is common among children who live in conditions characterised by poor sanitation. A recent study has shown how filthy surroundings, in which faecal material mixes with water and food, weaken the capacity to absorb nutrition. Limited resources to eat well and regularly result in a daily cycle of anxiety and low energy which translates into poor attention to the teacher's expectations. There cannot be better evidence of the relationship between hunger and education than the success of the mid-day meals programme. The fact that this minimalist scheme has actually improved enrolment and retention proves how major a role hunger and malnourishment play in pushing children to drop out of school. Certain State governments have recently administered a dose of deworming medicine, recognising the prevalence of parasites and the impact of this condition on children's nutritional status, energy and attention.

Vicious cycle

Poverty often leads to children's involvement in household work and outside activities that might augment the family's income, on top of their school work. The burden of responsibilities at home or outside

directly influences the child's participation in school life and capacity to fulfil the teacher's expectations. Teachers of private schools where 25 per cent of the seats are now being given to the "economically weaker sections" (EWS) category seldom know with clarity what life at home means for children in this category. From looking after younger siblings to sweeping the floor and cooking, an EWS girl often shares major tasks her mother is supposed to accomplish on a daily basis. Whether children work at home or outside, their effort to juggle work-related responsibilities with classroom routines makes their life at school porous and thin. Absence from school or inability to focus makes a direct impact on performance. Once a child starts to lag behind others, he or she becomes a relevant object of stereotyping by classmates and teachers. A vicious

cycle sets in. Common stereotypes about the poor get invoked in the teacher's mind and the child's behaviour resonates and reinforces these stereotypes. Some of these stereotypes are rooted in caste-related beliefs or in religion. Of course, no principal or teacher would ever acknowledge being guided by these stereotypes.

Education alone cannot address poverty. However, it holds an important place among the numerous strategies that a welfare state must adopt to loosen the grip that chronic poverty has on its victims. A recent British study led by Anand Mani shows how poverty saps the energy of its victims. They often fail

Poverty also has a corrosive effect on children's health and mental capacities. Frequent illness, especially on account of stomach-related problems, is common among children who live in conditions characterised by poor sanitation. A recent study has shown how filthy surroundings, in which faecal material mixes with water and food, weaken the capacity to absorb nutrition.



to keep up with the effort it takes to avail the state's benefits. The daily struggles and anxieties of life reinforce the cycle of ill-health and missed appointments. In India, the state's efforts are quite often mainly symbolic. The distribution of iron tablets or syrup to overcome chronic malnutrition among adolescent girls is a good instance. Had the famous mid-day meal been aimed at middle class children, it would have been priced more realistically. Greater flexibility to cope with price rise would have been permitted. Schemes for the poor are themselves so emaciated and stiff that they cannot be expected to make a significant difference in the lives of their beneficiaries.

Nor are strategies to combat poverty sufficiently contextualised or flexible. Rigidity and uniformity are said to be necessary to avoid corruption and misuse. Even a distinction as broad as rural and urban is overlooked when plans to address the educational problems of poor children are designed. Whether a school has drowned in a dam or been blasted by insurgents or it has been demolished because it was collapsing anyhow, the officials in charge make no distinction or find ways to compensate for the loss of classes. Children studying in government schools are deemed to be poor and, therefore, unimportant. I remember visiting a village in Haryana where the children told me that their best teacher had been transferred away two months ahead of the annual examination. All over the country, government school children cope with the absence of their teachers during elections. It is the children who subsidise the cost of democracy while their parents enthusiastically cast their vote, hoping that it will lead to improvement in their lives.



Teachers who work in mixed classrooms don't expect all children to succeed in their own different ways. They focus on the few who look exceptional; the rest are believed to lack any potential.



For better training

Teachers can make a significant difference in the educational experience of poor children, but only if their training equips them with the awareness of what poverty means. Our training programmes are so wordy and wasteful, they make no effort to get into specific issues like poverty. A widespread belief in the ideology of social Darwinism prevents teachers from realising that children of the poor are like any other group of children, with individual differences of interest and motivation. According to this ideology, survival is the proof of being the fittest, hence only the exceptional child from a poor family is endowed by nature to succeed. Training courses don't engage with such attitudes and beliefs. Teachers who work in mixed classrooms don't expect all children to succeed in their own different ways. They focus on the few who look exceptional; the rest are believed to lack any potential. It is hardly surprising that the system of education makes so little impact on the majority of children from poorer backgrounds.

(The author is professor of education at Delhi University and a former NCERT director. This article is a shorter version of his silver jubilee lecture at the National Institute of Open Schooling.)

(Courtesy :- Hindu)





A BETTER LIFE, A HEALTHIER MIND

● VANDANA GOPIKUMAR



Poverty takes a huge toll on the mind and on this World Mental Health Day, the focus should be on the well-being offered by community-based alternative approaches

In recent years, the impact of mental illness on the social and economic health of nations has been well understood, placing mental ill health as one of the leading causes of disability adjusted life years (DALY) worldwide. There has been much focus on early intervention, integration of mental health into primary care, stigma reduction and access to affordable health care, all very relevant and essential policy recommendations. However, we may not be addressing a related and critical area, sufficiently aggressively, if we are to respond comprehensively to what may well emerge as a health crisis, costing nations productivity and resources. Our responses thus far are on a tertiary, crisis resolution mode with negligible focus on prevention a necessity, if we are to improve society's collective quality of life and plan for mental health gains.

The World Health Organisation (WHO) has drawn our attention to the close interplay between poverty and mental ill health by documenting evidence that those affected by poverty, hunger, unemployment, debt or are living in poor, overcrowded housing are far more susceptible to common mental disorders. It also reports that 75 per cent of the global burden of Neuro Psychiatric Disorders occurs in low and middle-income

countries. In a somewhat similar vein, Anandi Mani and Sendhil Mullainathan recently probed the impact of scarcity on peoples' lives. The results of their trial show diminished cognitive functioning among those experiencing the strain of poverty, causing them to often make bad decisions, ignoring long-term benefits because of their more immediate preoccupation with money. This could result in poor mental health outcomes, as well.

Vicious cycle

The cyclical impact of poverty on ill health and stress and vice versa can be a trap that one struggles to crawl out of. I have seen families opt out of treatment and, sometimes, resort to suicide experiencing utter hopelessness; elderly caregivers give up, unable to bear the brunt of a devastating combination of mental illness and poverty. This interplay leaves workers such as me powerless and disillusioned, often sapping motivation and encouraging exit, leaving the sector scarcer in resources.

So, what can we do differently? While the medicalisation of sadness and unusual behaviour has been much criticised, pharmacotherapy has indeed yielded results and its importance cannot be trivialised or



dismissed. But have we tried all else to address the multi-dimensional factors that impact one's well-being? This is why the concept of Social Prescribing as a response to mental health issues may work well in a low-resource setting such as India, where the ecosystem could often precipitate stressful living conditions.

Social Prescribing is often used for vulnerable groups such as homeless persons, persons affected with mental health issues, single parents and people living in poverty and experiencing deprivation. The idea is to prescribe access to benefits, information, exercise, spirituality, social contact, employment, volunteering for a cause, peer support and participation in self help groups, social enterprises and so on to ensure that those who are preoccupied with the 'here and now' overwhelming issues of abject poverty and ill health have fresh insights and options to live life differently.

The facilitator, who helps access these options, offers a structured introduction to a new way of life that includes some of the finer aspects of living that contrast with the everyday monotony of distress and struggle. For those who are poor, the access to benefits including housing schemes, pensions and social care could help effectively combat other non-medical crises that build stress and accentuate depressive moods. Engagement in diverse activities and being occupied could also lend a sense of purpose or meaning to a person's life an empirically established way to stay happy and contented.

So, who makes this work? Besides the primary care practitioner and the specialist psychiatrist and psychologist, this would

Social Prescribing is often used for vulnerable groups such as homeless persons, persons affected with mental health issues, single parents and people living in poverty and experiencing deprivation. The idea is to prescribe access to benefits, information, exercise, spirituality, social contact, employment, volunteering for a cause, peer support and participation in self help groups, social enterprises and so on to ensure that those who are preoccupied with the 'here and now' overwhelming issues of abject poverty and ill health have fresh insights and options to live life differently.

legitimise and open up the role of yet another specialist, the psychiatric social worker, who by training is equipped with skills to address and respond to the multiple needs of a person with a mental health issue. If positioned within the government-owned system, the health and the social welfare departments will have to converge to ensure that the consumer



finally benefits from both types of care a form of convergence that the 65th World Health Assembly advocates as an essential attribute of a robust mental health system.

Political will needed

While the administrative systems could respond, a measure such as this calls for strong political will and action. Besides ensuring that schemes reach the poor, an important construct of social care in mental health is yet to be managed the disability allowance. The Persons with Disabilities Act ensures an allowance for those affected by mental illness based on compliance with certain set criteria. This benefit will ensure that the poor user and caregiver have access to some reprieve and help address socio economic challenges that we now know influence the people's behaviour and their health. This may well encourage treatment commitment; a common and critical challenge one faces in the mental health sector. Despite being an entitlement, accessing this advantage has been a close to impossible task for many in India. During this period of economic downturn, one may debate the wisdom behind what seemingly is an indirect investment to improve health and yet a significant revenue allocation, keeping in mind large numbers affected by mental disorders. However, like Stuckler and Basu (and indeed many others) eloquently argue in *The Body Economic*, on why austerity kills, reviewing the response of nations from the times of the Great Depression to newer global economic crises, almost always establishing a link between better quality of life, improved health outcomes and effective social protection schemes; I would also caution governments and societies from falling into

the trap of the notions of scarcity discussed earlier. Trading off long-term benefits for immediate relief could have detrimental effects on the social health of this very vulnerable group.

The good news is that India has launched a progressive attempt to both introduce a Mental Health Care Bill (that will encourage the common man to view mental health care as a right, making services mandatory) and a Mental Health Policy that will focus on precisely this the diverse needs that promote well-being. Meanwhile, if Social Prescriptions and Protection can be tested anywhere in India, it has to be in Tamil Nadu, a leader in social innovation and health and development indicators. With the Amma kitchen and neer, basic amenities such as food and water have been made available to many at a reasonable price an approach that can soon be sustainable, make economic sense and along the way result in social merging or mixing, blurring the lines between classes. Now, imagine this as a mental health response a person with depression walks into a clinic, receives medical attention and is then guided to a social worker who would refer the client to multiple other services including a social protection scheme that works. We would then truly be addressing the needs of those who according the World Disability Report (2010) are the poorest-persons with disabilities. In the process, we would build non pathological responses to healing the mind and construct holistic services that will eventually promote social capital, have an impact on progress and development and help promote equity.

(Courtesy :- Hindu)





THE RIGHT TO SAFE ABORTIONS

● Editorial

With the Medical Termination of Pregnancy (MTP) Act coming into effect in 1972, India conveyed a strong message that it cared for the health of pregnant women who wanted to safely terminate their pregnancies. Yet, even four decades later, many women are still unaware that abortion is legal. Even access to safe abortion centres is severely restricted, especially in rural areas. As a result, there is a great mismatch between the number of abortion seekers and MTP-certified providers and centres. According to a 2008 study in *Contraception* journal, nearly three-quarters of abortion-certified facilities are in the private sector. Add to this the stigma and discrimination that women seeking abortion face, and it is not surprising that a large number of women still turn to unskilled providers to perform abortions using unsafe methods in unsuitable settings. In 2010-11, over six lakh abortions took place in government-approved institutions. The number of unsafe abortions taking place every year is not known. According to a 2008 WHO report, about “two thirds of all abortions” that take place in the country are outside authorised health facilities. As a result, abortions cause an estimated eight per cent of maternal deaths in India a majority of which are due to unsafe procedures according to the Registrar General of India’s data.

To complicate the situation further, the Prenatal Diagnostic Techniques (Regulation

and Prevention of Misuse) Act, 1994 meant to prevent sex determination to avert female foeticide can work at odds with the MTP Act. It cannot be denied that selective abortion of girls has been increasing in India. As per 2011 census data, the sex ratio of girls per 1,000 boys dropped from 927 to 914 during 2001-2010, and from 945 to 927 during 1991-2000. Yet, a long-lasting solution can be achieved only by bringing about a cultural change and not by clamping down on abortion services and drug availability. A holistic approach is needed that will not lead to more women seeking out unsafe abortion providers, resulting in an increase in maternal deaths. The Protection of Children from Sexual Offences Act, 2012 and the Criminal Law Amendment Act, 2013 have also made matters worse for minors seeking abortion services. Even if minors indulge in consensual sex, the resultant pregnancy is presumed to be the result of rape and doctors may feel obliged to inform the authorities. While the 2012 and 2013 Acts have gone to great lengths to protect the interests of women and minors, these laws may unwittingly force minors to seek the services of untrained providers, thus putting their life in jeopardy. Reducing unsafe abortions will remain a distant dream if different Acts work at cross purposes.

(Courtesy :- Hindu)





NOTA SMALL MATTER, THIS

● N. GOPALASWAMI



The Supreme Court's recognition of a negative vote as a constitutional right should be followed by acknowledging it as a rejection of all candidates

The recent NOTA (none of the above) order of the Supreme Court makes for a hat trick of decisions by the judiciary, striking a blow for electoral reforms. The attempt to reverse one of them to save MPs found guilty of offences that would instantaneously unseat them was thwarted because of public pressure and the President's reported reluctance to sign the Representation of the People (Amendment and Validation) Ordinance. It is said that nature abhors vacuum. In the face of the government's reluctance to move ahead in bringing meaningful electoral reforms, the courts have had to intervene wherever they could to give some push to the reforms and to restore the public's faith in the system.

Government's failure

The NOTA case is a classic example of the government's failure to do the right thing at the right time. The Election Commission of India (ECI) moved the Law Ministry in 2001 for an amendment to the rules to provide for a button in electronic voting machines in order to protect the identity and secrecy of a voter who does not want to vote for any candidate. That was the equivalent of the unmarked ballot paper of the earlier era. The ECI received no response to the proposal for amending the said rule, although the Minister in charge needed neither the Union Cabinet's

nod nor Parliament's assent. In 2004, the then Chief Election Commissioner, T.S. Krishnamurthy, reiterated the proposal after christening the button as 'none of the above' but, for the first time, clearly articulating that it was to "to enable a voter to reject all the candidates, if he chooses so." By then, the PUCL had already moved the Supreme Court in the matter. The case came up for hearing in 2009 but in the intervening years the protagonists for the 'no vote' button had raised the pitch claiming for it the attribute of 'rejection' of candidates which it is not, at least not yet. Presently, it will only enable a voter not to vote in favour of any candidate. So the votes recorded against this button will have the same fate as the 'invalid' votes of the ballot paper era and would have no role in determining the winner. With EVMs, the 'invalid vote' category got eliminated as mistakes like wrong marking and multiple marking became a thing of the past. Now, with this button that column will come back to life.

If that be so, is it not a minor matter, a storm in a tea cup? To answer it, one should look closely at some pronouncements of the Supreme Court in this case. It is worthwhile to note that by the time the matter came up in the Supreme Court in 2009, the government had understood the potential of this button to



create a 'negative' impact in the short run, leading to the demand for a right to reject candidates and seek fresh elections.

The government, therefore, reacted strongly it sought to get the petition dismissed outright arguing that since the right to vote was not a constitutional right but only a statutory right, the petition filed under Article 32 was not maintainable and so should be thrown out. This led to further delay in the disposal of the petition as it awaited the constitution of a larger bench. The Supreme Court verdict has arrived almost a decade after the petition was filed, in favour of the NOTA button but with far-reaching consequences.

Wider choice for voters

The reactions to this order have been varied. Some have chosen to describe it "as a minor issue," pointing out to the lack of action to carry out comprehensive electoral reforms. Some have welcomed it as it may increase voter turnout, an aspect which the Supreme Court judges also pointed out. Some have felt that it will make parties more responsible, which will nominate better candidates. The judges themselves pointed out that it can widen participation and curb impersonation. A careful reading of the judgment indicates that the judges strove to make this happen through some deft side-stepping and innovative interpretation of past judgments of the Supreme Court and provisions of the Constitution, on the nature of the right to vote, with the sole objective of giving the voter a wider choice.

To quote from the verdict: "Democracy is about choice. This choice can be better expressed by giving the voters an opportunity to verbalise themselves unreservedly and by imposing least restrictions on their ability to



Some have welcomed it as it may increase voter turnout, an aspect which the Supreme Court judges also pointed out. Some have felt that it will make parties more responsible, which will nominate better candidates. The judges themselves pointed out that it can widen participation and curb impersonation.



make such a choice." The Supreme Court was emphatic that the no vote option "gives the voter the right to express his disapproval with the kind of candidates that are being put up by the political parties." Going further, the judges declared that the "provision of negative voting would be in the interests of promoting democracy."

This seemingly innocuous judgment to add a button to the EVM may sound very plebian but the skilfully worded order has put a seal of approval on the distinction made between the right to vote, which it confirmed was a



statutory right, and the act of exercising that right by the casting of a vote which it confirmed as a constitutional right as enshrined in Article 19(1)(a), the right to freedom of speech and expression. It then added a constitutional lustre to 'negative voting' by declaring "not allowing a person to cast vote negatively defeats the very freedom of expression and the right ensured in Article 21, i.e., the right to liberty."

The Supreme Court's recognition of "negative voting" as a constitutional right is by all means a giant step forward for the voter. Civil society has thus won an important and vital point. From here the next logical step will be one of raising the status of the button to that of "negative vote" with consequences, in other words a vote for 'rejection' of all candidates, instead of its current status of merely being "no vote or negative vote." This step would inevitably have to follow if political parties do not see the writing on the wall and belie the expectation that NOTA "will indeed compel the political parties to nominate a sound candidate," as the Supreme Court said.

If parties keep imposing tainted candidates

on voters or, while selecting candidates, pay scant regard to their performance or integrity, the electorate can hit back with NOTA. A time will come with demands for fresh election with a fresh set of candidates if, in the first election, NOTA scores the highest votes. If that happens, even if the lawmakers are reluctant, the Supreme Court may not be unsympathetic given the contours of this judgment. With 12 crore first time voters who will have NOTA before them in the coming election to Parliament, the stage is set for the electorate to challenge political parties' commitment to decriminalising the legislative bodies. A comprehensive electoral reform is the need of the hour but if the political class keeps dragging its feet, courts may be willing to clean the Augean stables. For their part, those who moved the Supreme Court in this matter and other civil society organisations would do well to educate voters of the power the court has placed in their hands and let the button beep louder and speak for them. NOTA will not remain a small matter for long.

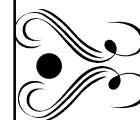
(The writer is former Chief Election Commissioner of India)

(Courtesy :- Hindu)



"The challenge of leadership is to be strong, but not rude; be kind, but not weak; be bold, but not bully; be thoughtful, but not lazy; be humble, but not timid; be proud, but not arrogant; have humor, but without folly."

— Jim Rohn





ROLE OF LEGAL EDUCATION IN DEMOCRATIC SOCIETY

“....man is inwardly a soul and a conscious power of the Divine and that the evolution of this real man within is the right object of education and indeed of all human life.”

– Sri Aurobindo

Introduction

The importance of legal education in a democratic society cannot be over emphasised. History has provided enough evidence that the human race has always been on an upward path of progress through enhancement of knowledge. Knowledge of law increases one understands of public affairs. Concept of ‘Dharma’ in Vedic period also includes dispensation of justice by King who acquired specific legal knowledge. There was a time in the human evolution when law was a part of ethics and religion, of morals and values, of philosophy and consciousness. Ancient civilization particularly that of India, conceived a legal order based on the compendious Sanskrit expression “Dharma”.

The role of ethics and philosophy in explaining social problems and giving directions for social action is not adequately appreciated today. However, in making and interpreting law, no society can afford to ignore Ethics. One can say that law is an applied ethics. No civilized society can be structured without developing its moral fibre

and consciousness either through law, religion, education or other instruments of social control. The gurushishya parampara has existed ever since Vedic era making education an integral part of human development. It is education which ultimately results in shaping or transforming the whole society in to human civilization. Spiritually, it is believed that the life on the earth is regulated by the laws of the Lord or the Divinity. It is ‘rule of law’, that draws the essential difference between human society and animal world. It is the legal education that plays a pompous role in promoting social justice. Education or awareness of laws, characterize the lawyers as ‘Social engineers’.

A study of history reveals that in modern times shows that it is intellectuals alone who can give leadership to the nations. We can find that it was the lawyers who gave leadership to most nations. For example, during the great American Revolution of 1776, most of the American leaders were lawyers e.g. Thomas Jefferson, John Adams, James Madison etc. In the great French Revolution



of 1789, about two-thirds of the members of the French National Assembly were lawyers, e.g. Robespierre, Danton etc. In the American Civil War of 1861-65, the American President who led the nation to victory over slavery was a lawyer-Abraham Lincoln. In the Russian Revolution of 1917, the leader of Russia was Lenin who was a lawyer. In our own independence Struggle, most of the leaders during that period were lawyers e.g. Mahatma Gandhi, Motilal Nehru, Jawaharlal Nehru, Sardar Patel, CR Dass, Dr. Rajendra Prasad, Rajaji etc. The lawyers who gave leadership to the nations and not doctors or engineers or teachers or other professionals because of the reason those lawyers are intimately connected to the Society. Doctors deals with medical problems, engineers deals with technical problems, teachers deals with academic matters etc, but it is lawyers who deals with the entire society.

In modern India legal education came in to existence in 1885. Numerous committees were foamed to consider and propose reforms in legal education. Constitution of India basically laid down the duty of imparting legal education. Advocates' Act, 1961 which brought uniformity in legal system. In the changed scenario the additional roles envisaged are that of policy planner, business advisor, negotiator of any interested groups etc. In the Era of Globalization legal system in India include catering the needs of new brand consumers or clients namely foreign companies, collaborators etc. Strengthening our legal education system is need to face the new challenges. Imparting of legal education has always been considered as one to the noblest profession. Legal education which is part of general education

cannot be viewed in isolation. Today, legal education derives its impetus from the economic, social and economic and political set up of the society.

Significance of Legal Education

Law is the cement of society and an essential medium of change. The significance of legal education in a democratic society cannot be over-emphasized. Knowledge of law increases one understands of public affairs. Its study promotes accuracy of the expression, facility in arguments and skill in interpreting the written words, as well as some understanding of social values. It is pivotal duty of everyone to know the law.

Ignorance of law is not innocence but a sin which cannot be excused. Thus, legal education is imperative not only to produce good lawyers but also to create cultured law abiding citizens, who are inculcated with concepts of human values and human rights. We must have a legal education which can fulfill the need of the society and country as well. We are no longer laissez-faire but a welfare State and in welfare society law plays a very important role in every affair of human being.

Law serves as an important instrument to achieve socio-economic development. Today law is not viewed merely as an instrument of social control but also an instrument of social change. The aim of legal education should be not only to produce good lawyers but also create cultured, law abiding citizens who are inculcated with concepts of human values and human rights who can serve humanity in various capacities such as, administrators, law teachers, jurists, judges,



and industrial entrepreneurs etc.

As far as creation of good advocates and solicitors is concerned, the legal education should aim at equipping them with legal techniques and professional skills. An Advocate must be tolerant, must listen patiently other man's point of view and not hazard opinions without some basis. He should be rational, secular keeper, willing to work hard, competent to communicate having good expression, must have critical understanding of human institutions and values. Legal profession is objectively in the position of producing Statesmen.

This is due to two reasons:-

- (1) Lawyers belong to an independent profession. They are not subordinate to the government or to anyone else.
- (2) They are directly in contact with society in its entirety as they have to deal with all kinds of problems of people from all sections of society, unlike say, doctors who are confined to technical problems. Hence lawyers are the people who are most conversant with the problems of society as a whole.

A well administered and socially relevant legal education is a sine qua non for a proper dispensation of justice. Giving legal education a human face would create cultured law abiding citizens who are able to serve as professionals and not merely as business men.

The quality and standard of legal education acquired at the law school is reflected through the standard of Bar and Bench and consequently affects the legal system. The primary focus of law schools should be to

identify the various skills that define a lawyer and then train and equip its students with requirements of the field of law.

History of Legal Education in Ancient Period

Legal historians record instances of legal practitioners indigenously known as 'Pleaders' or 'Niyogis' representing parties in litigation at least from the time of Manu Smriti. There are difference of opinion on the exact role these 'lawyer' played in ancient times and whether they aware at all organized as a profession.

Legal system in India is the natural outcome of its deep roots in ancient Indian traditions. It has existed in India from the dawn of Aryan civilization. But there are different viewpoints in the matter of legal education in ancient India. Dr.Kane quotes Sukraniti IV 5, pp.114-117 to say that a person appointed to represent a party should get as his wage 1/16, 1/20, 1/40, 1/80, 1/60 part of the amount in dispute. K.P.Jayaswal observes that professional lawyers existed in India at least from the Manu Smriti.

According to Dr.Kane, a person well versed in Dharma Shastra and procedure of law could be appointed as the representative. The King should punish any representative who took wages without having these qualifications. According to P.V.Kane there could be some people who represented others in the Kings Court, but the opinions of such legal experts were not binding on the King.

In ancient India law was understood as a branch of Dharma. It is difficult to draw a distinction between secular law and religious



ordinances in Ancient India. The Vedas were the original sources of law, and the Smritis announced the message of Vedas and Smritikars were great jurists. Smritikars, commentators and Nibandhakars [essayists] were the legal guardians of law. King made laws were also interpreted, thus, the commentators were virtually law-makers. Sadachara, custom, Nyaya or Yukti were the base of legal process in Ancient India. The King was advised by a Sabha which had both advisory and executive functions. The parishad was an expert committee comprised of ministers of officials, generally Brahmans, who advised the King authoritatively on law.

The concept of dharma, in the Vedic period, can be seen as the concept of the legal education in India. Although there is no record of formal training in law, the dispensation of justice was to be done by the king on the basis of a self-acquired training. Justice was also administered by the King through his appointees who in turn were persons of known integrity and reputation of being fair and impartial. The guiding force for the King or his appointee was the upholding of the Dharma.

Historical Background of Legal Education in Independent India

With the Independence the situation has completely changed. In 1950 we gave ourselves democratic form of government. The rule of law became the foundational doctrine. It is also clear that a polity based on rule of law would require a legal profession sufficiently skilled and possessing knowledge of laws and their principles in order to maintain and preserve the legal

system.

The Advocates' Act, enacted in 1961, became the focal point of the legal education system presently in existence. The Bar Council of India Rules, inducted under The Advocates' Act 1961, lays down the curriculum for imparting legal education throughout India and these said Bar Council of India Rules have been governing the procedural aspects of legal education, including, but not restricted to, the subjects to be taught, mode of examination to be conducted, the various Degrees to be conferred on successful students and the like. It was only in 1967 that it became the burdensome task of the three year law colleges to include procedural subjects into the curriculum of their law school. The monologue lecture scheme adopted in law schools, where practical training is either totally neglected or marginally implemented at the level of Moot Courts, Court visits and legal research will not make good lawyers in today's scheme of legal education.

Rules on Legal Education, which were incorporated into the pre-existing regulations, have been amended from time to time. There were demands for a consolidated latest version of the Rules under Part IV on standards of Legal Education and Recognition of Degrees in Law for admission as Advocates from Universities and Colleges teaching Law in the Country. In response to popular demand, the Bar Council of India published the Rules in its final shape as applicable from 30 November 1998.

The minimum qualification for being an advocate is an LL.B Degree, generally a three year course, which can be obtained after



graduation in other disciplines. A debate as to its efficacy in the recent past led to a proposal of a five year integrated course after an intermediate (10+2) examination (from 1st class to 12th class - total period of 12 years of study). The three year course itself came to be restructured into a semestered system and several papers came to be included and excluded as per the Bar Council Guidelines. Hence, the Council today allows both the 3 year course and 5 year course to continue.

The Advocates' Act, enacted in 1961, became the focal point of the legal education system presently in existence. The Bar Council of India Rules, inducted under The Advocates' Act 1961, lays down the curriculum for imparting legal education throughout India and these said Bar Council of India Rules have been governing the procedural aspects of legal education, including, but not restricted to, the subjects to be taught, mode of examination to be conducted, the various Degrees to be conferred on successful students and the like. It was only in 1967 that it became the onerous task of the three year law colleges to include procedural subjects into the curriculum of their law school. The monologue lecture scheme adopted in law schools, where practical training is either totally neglected or marginally implemented at the level of Moot Courts, Court visits and legal research will not make good lawyers in today's scheme of legal education.

Agencies Regulating Legal Education.

The Constitution of India basically laid down the duty of imparting education on the states by putting the matter pertaining to education in List II of the Seventh Schedule.

But it now forms part of List III, giving concurrent legislative powers to the Union and the States. Legal profession along with the medical and other professions also falls under List III (Entry 26). However, the Union is empowered to co-ordinate and determines standards in institutions for higher education or research and scientific and technical institutions besides having exclusive power, inter alia, pertaining to educational institutions of national importance, professional, vocational or technical training and promotion of special studies or research.

Empowered by the Constitution to legislate in respect of legal profession, Parliament enacted the Advocates Act, 1961, which brought uniformity in the system of legal practitioners in the form of Advocates and provided for setting up of the Bar Council of India and State Bar Councils in the States. Under clause (h) of sub-sec (1) of Sec.7 of the Advocates Act, 1961 the Bar Council of India has power to fix a minimum academic standard as a pre-condition for commencement of a studies in law . Under clause (i) of sub-sec (1) of Sec. 7, the Bar Council of India is also empowered "to recognize Universities whose degree in law shall be taken as a qualification for enrolment as an advocate and for that purpose to visit and inspect Universities".

The Act thus confers on the Bar Council power to prescribe standards of legal education and recognition of law degrees for enrolment of persons as Advocates. However, for promoting legal education and for laying down standards of legal education, the Universities and State Bar Councils must be effectively consulted. The University



Grants Commission has in the course of time evinced interest in improving legal education and has taken various steps towards at end, through adequate funding, creating of senior posts and other means.

The Journey of Legal Education, from the crossroads to modernization

Prior to the introduction of five year law course, most of the students who performed well in their Intermediate Education aspired to study medicine, engineering, computers, business management and accounting. Law as a profession and legal education as a discipline was not a popular choice of the students. Unlike India, the situation prevalent in England, America and in many other developed countries is convincingly different. The admissions to law schools in these parts of the world are highly competitive. The end result is that the 'creams' among students opt for law by choice and not as the last resort and thus richly contribute their Shares to the society as lawyers, judges, paralegals and academics.

Though, five year law schools are doing their bit to bring about a change; but more effectively the perspective of prospective law students can be changed by a healthy pre-legal education at the school level.

Curriculum is the very base on which teaching, research evaluation and support system are centred around. There is no need to stress on one point that the curriculum should be highly flexible and undated to keep pace with the changing and challenging trends of the globe. It should be socially relevant, innovative and interdisciplinary areas and should be periodically evaluated to keep pace with the international

standards. It should also include contents facilitating critical thinking and analyzing capacity, experience based teaching and learning skills, generating new knowledge through theoretical and practical teaching, reading and research, experimental based learning environment, enhancing capacity building of both the learners and teachers, widening the horizon of developing indigenous data based literature, developing network with the government and non-government organizations etc.

New Challenges to the Legal Education in India:

The globalization is not a new, but is an old age concept which was first introduced by Adam Smith in the year 1776 through his book titled 'Wealth of Nations'. He argue that a country as a whole would gain by having trade relations with other countries. Globalization has caused a paradigm shift in the very concept of education. Education which was considered a service has now become a business. Half a century ago, the main purpose of university legal education in India was not the teaching of law as a branch of learning and as a science but simply to impart to students a knowledge of the black letter law, that is, certain principles and provisions of law to enable them to enter the legal practice exclusively for local needs.

Gradually this perception changed and the process of reform in law and legal education was initiated. The real break came in 1990s when the new challenges posed by scientific and technological revolution and greater interaction between nations, trade in goods and services, information technology and free capital flow across international boundaries



made the world a global village. Consequently, the concept of “local practice” widened to that of “transnational practice” in the context of globalization and opening up of most of the economies of the world.

Since India has joined hand with WTO, it has no other alternative but to accept the shifting of traditional concept of Indian education. In the light of globalization, the ‘quality issue’ has become more sensitive. The level of learning should be such that the learner is able to handle the challenges with maximum efficiently by suitable application of knowledge and understanding, problem solving ability, creative thinking, practical and productive skills, attitudes and values. In a broader sense, education is a process of human empowerment. Due to rapid advances in science and technology, which is accelerated by globalization, privatization and liberalization. Survival of fittest in competitive world is tending to become the law.

Roscoe Pound directed to particular attention new aspect of the lawyers’ role in modern society. He said that the worldwide economic unification is challenging the self sufficiency in the systems of law. He pointed out that law transcended local and political limits and has become an economic necessity. He said “Even more the development of industry carried on with instrumentalities and under conditions increasingly dangerous to life and limb and under conditions creating ecological problems and the mechanizing of every activity of life likewise threatening injury to everyone, have been creating new legal problems calling for revision of the old

doctrines and finding out a new means of promoting and maintaining a general security.....thus the science of law must be increasingly comparative.

Whether we are dreaming of a world law or thinking of further development of our own law, to suit to the worldwide problems of general security in the present and immediate future, the methods of jurist must have a base of comparison. Comparative law and international law have achieved such vital importance in current life that they have become an essential part of legal education. The lawyer of today has to play a role in influencing world policies and building up the future of mankind.”

Globally, interest in quality of higher education centres on two basic questions: Are the graduates getting the knowledge and skills necessary for a changing economy in context of improved study programmes to achieve more and better learning? Are higher education institutions spending public money in the right way? Thus the quality debate centred on effectiveness and efficiency measures.

How should the legal profession and legal education respond to the new challenges? Never before in history has the need for sound thinking and planning on all issues been felt so intensely as today. Unless the topics of universal application are integrated into legal education in developing countries, our lawyers and those of other countries would not be able to compete in the transnational marketplace. In the present day, an innovative programme of integrated interdisciplinary legal learning and in the new areas such as Comparative Law, information



technology, intellectual property, corporate governance, human rights, environment, and international trade law, investment, and commerce, transfer of technology, alternative dispute resolution and space is important. Comparative Legal education for professional excellence is needed in these and other areas on a global basis.

The world's problems require international co-operation and solutions, especially after the initiation of the liberalization and globalization process in today's world of increasing international trade and inter-dependence. The recent trend is that most of the agreements are construed internationally and the member countries are obliged to implement them at the domestic level. It is necessary for lawyers to understand the political, cultural and social influences on the legal systems of other countries and, by using that knowledge, to forge strong relationships between parties. Some observations of David Gerber are apposite in this context.

For instance, Gerber calls for greater attention to theory in the broad sense of conceptual structure, because theories are the mechanisms for structuring information and knowledge effectively. The object of the entire exercise is to structure knowledge about foreign legal systems. Analogous to this viewpoint is the model suggested by Ugo Mattei. He argues for a classification of legal systems, which he refers to as of legal systems for the purpose of learning from each other by rethinking the traditional boundaries drawn in the context of changing nature of global politics. This situation necessitates revisiting the classic categorisation of legal systems as civil, common and socialist.

For a new beginning, one has to think within the paradigm of change and bring to the forefront the need for developing new approaches to the ongoing challenges posed by globalization, which should be prioritized in the framework of legal education in a country such as India, in order to cope with the current and future pressures.

The Roy Stuckey study on "Best Practices" brought out by Clinical Legal Education Association [CLEA] in United States of America on best practices for legal education. Best practices have been identified based on well known principles of curriculum development involving four distinct stages, namely, identification of educational objectives, selecting activities appropriate to attain those objectives, organizing the activities in the form of effective instructional modules and designing methods for evaluating the effectiveness of the selected learning experience. This study envisages a shift the emphasis from content based programmes of instruction to outcome focused programmes of instruction. The legal practice needs to be expanded to a variety of significant roles that the law trained persons are called upon to perform in governance, in development and in civil society.

Globalization and Legal Education in India

The term 'globalization of law' refers to the degree to which the whole world lives under a single set of legal rules. Such a single set of rules might be imposed by an international body, adopted by global consensus, or arrived at by parallel development in all parts of the globe. In today's world of increasing international trade and inter-dependence the need for transnational law has increased



many folds. As more and more countries open their economy, either partially or completely, there is a growing need to recognize and work towards a uniform system of law. This process of globalization is evident in all facets of law.

The Importance of Comparative Legal Education

India is at a significant stage now positioned for a role as a major global player. Considering the growth of India in areas of technological and financial sectors, it is important to reflect upon these developments and assess the need to study transnational law and Comparative Law. It can be said that in recent times the value of Comparative Law has been appreciated, however it is not yet been made a compulsory course. Recommendations of the National Knowledge Commission of India (NKC) also emphasize that legal education should meet the needs of trade, commerce and industry in the context of growing internationalization of the profession.

The NKC constituted a Working Group in order to propose some key reforms in the field of legal education in India. The Working Group comprised of experts, who are members of the Bar, the Bench and academia. The Chairman of the Working Group is Justice M.Jagannadha Rao. The Working Group of the NKC recognizes *inter alia* the importance of the study of Comparative Law, with the purpose of creating lawyers who can deal with differing legal systems and cultures, while remaining strong in one's own national legal system.

Comparative law as a discipline provides

various tools to the students to carry out comparative legal research. Keeping in mind the relevance of the discipline of Comparative Law and the seriousness of the subject, a study was done by Professor Rahmatullah Khan in 1971. Professor Khan discusses in this book a few methods as to how Comparative Law should be taught in India. So far, it could be said that it was the only noteworthy work done in India on this area.

Importance of International Law

Here it is pertinent to establish the relevance and importance of international law in the context of globalization. The term international law encompasses both public and private international law, including comparative law. The topic of methodology in international law has attracted the attention of scholars' world over. Of late international trade law has become a popular choice among students. The relevance and interface of comparative law and international trade law cannot be overlooked or ignored. In this perspective, we cannot disagree with D'Amato's view that "International Law as a discipline is more exciting and challenging. As a law school subject, it is our window to the world...If there is going to be change, it has to come from student demand. To be more effective, students should demand international law courses not just because of subject matter, but also because of the light they throw upon the study of 'law' in general."

International Trade Law developed over the years and especially after the establishment of WTO and various multilateral trade agreements under the WTO aegis as well GATT 1995 have unfolded a vast multitude of International Trade law norms,



which impinge on every aspect of nation's life. The international agreements on Goods, Services, Intellectual Property, Investments, Sanitary and Phyto-Sanitary Measures, Dumping, Non Tariff Barriers, State Trading etc., have been concluded in a manner that municipal states including India have little choice of not complying the international standards as developed by international economic institutions.

International Monetary Fund and World Bank are also important components of international trade strategy and as such have opened up a vast area of law, economics and policies which have both international and domestic linkages and the lawyers of today have to position themselves strategically in the overall balancing of international legal obligations and municipal settings. The WTO dispute settlement mechanisms have outweighed all the other international dispute settlement mechanisms by the fact that its jurisdiction is compulsory. Therefore, the decisions rendered by the dispute settlement bodies of the WTO have explicitly and implicitly developed a highly complicated jurisprudence, which requires a high intellectual profile to be understood.

Commercial, Contract and Securities Law

There are various connotations to the term 'Globalization of law'. It may be viewed as a concomitant of the globalization of markets and the business practices of the multinational corporations that operate in those markets. There has been some movement toward a relatively uniform global contract and commercial law. It is well established that contracts are a kind of private lawmaking system. By that we mean that a contract may

be defined as a law between the parties to the contract.

The two or more contracting parties create a set of rules to govern their relationships, as laid down under the terms of their agreement. In international trade too, the parties enter into contracts and the contracting parties invariably agree to submit to a nongovernmental arbitration mechanism or the courts of some particular nation state, or both, to resolve contract disputes. They may also chose the governing law of the contract under which any contract dispute between them shall be resolved.

In today's world of inter-dependence and international commerce, there is increasing importance of growth of harmonization of international commercial law. Most of the countries have now recognized the need for a uniform, predictable and transparent system of law for encouraging foreign investment and international trade with other countries. As a result of this, the courts and law of most of the countries recognize and enforce the judgments of the others. Hence there is a tentative movement towards the formulation of transnational commercial law through contracts.

In the securities market there have been rapid legal innovations for better investor protection, such as the ban on insider trading and committee reports on corporate governance. There has been an enormous, global flood of product standards and other consumer protection law, but not only are developments much faster in some nations than in others, but the substantive standards and rules adopted also vary widely.



Protective Law

The constitutional rights movement is one aspect of a global movement that is based on the distrust of concentrations of power. The individual is seen as needing protection from all the larger forces that threaten to crush him, not simply the governmental ones. Law is seen as one instrument for such protection. Thus, in speaking of globalization, we move from the realm of constitutional law to the realm of torts, product standards, consumer protection, and occupational health and safety.

Of course, most legal systems around the world have always dealt with personal injury, fraud, and shoddy goods. However, with passage of time the 'caveat emptor' rule was replaced and the laws of consumer protection and investor protection became more stringent. In the sphere of business organization and finance, there has been active improvisation in securities and corporate governance law.

Globalization here refers to a worldwide increase of legal protection against the ill effects of technical, economic, and social devices too complex, distant, or powerful to make individual self-protection possible. The most recent manifestation of this movement is the mushrooming of environmental protection law that is partially fuelled by a concern with nature itself but tends to achieve its greatest impetus when that concern is coupled with putative injury to individuals from pollutants.

Perhaps globalization is clearest and most dramatic in environmental law. As it became increasingly clear that the externalities of

environmental degradation crossed national boundaries and that some of them, like ozone depletion, were truly global, parallel developments in national environmental law accelerated, as did efforts at multi-national and/or international environmental protection law. Given the global uniformity of the industrial technologies threatening the environment, considerable substantive uniformity emerges even in national environmental rules.

Science and technology laws

Another issue concerns the application of science and technology in the legal practice and legal development. It is now universally accepted that science and technology form the key to eradication of poverty and improvement of the quality of life. Whether it is environment or energy, health or housing, education or employment, modern science can provide opportunities for growth in a manner that is sustainable and equitable.

A number of laws are being enacted, absorbing scientific inventions and facilitating technological developments, directed towards growth and social justice. The irony of the situation is that neither legal education nor legal practice is influenced adequately with the technological revolution that is sweeping the progressive nations across the world.

Even computers, which have become common place in every area of governance is still to enter in a big way into legal education. If this situation is allowed to continue, the legal world will, instead of being the agents for delivery of justice to the community, turn out to be obstacles to justice.



The institutions teaching law should lead the change in this direction.

They have to re-vamp the curriculum with an emphasis on science-related law subjects (cyber law, environmental law, energy law, air and space law, health law, agricultural law, forensic sciences and intellectual property law) and organize multi-disciplinary teaching with a view to enable the future lawyers and judges to become critical consumers of scientific knowledge and experts in resolution of scientific disputes.

Universities also have to extend a helping hand to equip the existing practitioners with the scientific knowledge necessary to handle the emerging legal issues through continuing education programmes and distance education courses. This is another challenge for legal education, which cannot wait for long for appropriate responses.

Recognizing the need for Modernization of Legal Education.

The conventional role of a lawyer is to step in after the event takes place, in order to resolve dispute and dispense justice to the aggrieved party. In the changed scenario, the additional roles envisaged are that of policy planner, business advisor, negotiator among interest groups, experts in articulation and communication of ideas, mediator, lobbyist, law reformer etc.

In this the era of information capitalism, economic liberalization and WTO, legal profession in India has to cater to the needs of a new brand of legal consumer/client namely the foreign companies or collaborations. The law colleges are required to make strategic plans, that set out a clear

vision of justice delivery and also address the emerging realities of the market. Goal of the law schools should be to build a system of legal education that is able to meet the new challenges.

Conclusion:

Legal education is an investment which if wisely made will produce most beneficial results for the nation and accelerate the pace of development. Of late the role of a lawyer in a common law system is more than a skilled legal mechanic; he acts as a harmonizer and a reconciler. The legal education granted at the law schools should be aligned to the conventional and contemporary needs of the legal profession.

The guiding question remains: what kind of lawyers or law graduates are to be produced by the institutions of higher learning in law. It is important to attend to this question, which is to be addressed before we revisit the curriculum and suggest some changes for making international law as a discipline more effective and influence students to read the subject in detail. Present day education in a lucrative commodity- a 'thing' that anyone can trade anywhere, within the jurisdiction of education industry. For a major part of the law course, Comparative Law is an optional paper in the curriculum in Indian Universities. It is prudent and desirable to teach this subject. This exercise to a large extent will influence the purpose of international law teaching and methodology. It is precisely at this point that learning Comparative Law can prepare students for effective participation in an increasingly global and diverse legal profession. Further, students can enhance their legal skills,



collaborative learning and leadership.

With the growth of international and regional legal orders, an understanding of the forms and methods of comparative legal study has become essential to all those wishing to understand and engage in current legal debates. Amidst this scenario, it is necessary to transform legal education in response to present and future needs.

The debates and theories relating to legal systems are important to be a compulsory part of the legal curriculum. It may be said that the purpose of Comparative Law is not to unify the different laws and legal cultures of the world, but to understand the multiplication of these laws, different traditions and cultures and in the process to get acquainted with the unfamiliar legal systems of the world. In this effort, lawyers and legal scholars will learn to appreciate the similarities and differences in systems of the world and will tend to look at issues in a rational manner. This situation will further the enrichment of understanding of the layers of complexity in a society.

The increasing demand of lawyers in a globalised world has given a fresh impetus to the study of international law in India. Therefore this demand requires the present curriculum and pedagogy related to international law and teaching be revisited so as to set some new standards in the field of international law training in the universities and national law schools.

We have been looking at the globalization of law along a number of factors. The global

distrust of hierarchical authority and concentrated public and private power generates growth in administrative law, constitutional, and other rights law, and in legal regulation of economic enterprise. The global desire to protect the individual generates growth in personal injury, consumer protection, environmental law, and even family law.

The globalization of markets and business enterprise generates the growth of a worldwide law of business transactions. The global multiplication of exterior business relationships and the growth of arms-length regulatory styles fuel a growing demand for lawyers and their involvement in more and more social, economic, and political relationships. Having stressed on the need for globalization, we need to adopt our domestic structure to be able to keep pace with the movement of globalization both in terms of legislation and in terms of legal education and practice.

After all, the twenty-first century lawyer needs to have a good understanding of the transnational legal environment because international concerns and agreements in this century are pervasive and encompass virtually all branches of human activity—from the ocean floor to the planets climate to outer space. The legal educators need to be more aware of the changes and be pro-active in changing to meet the challenges.

(Source : www.legalservicosindia.com)

Completed by : Research Officer MPHRC

□ □ □